एम.ए.पी.एस.-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

राजनीतिक चिन्तन

एम.ए.पी.एस.-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

राजनीतिक चिन्तक

खण्ड - I यूनानी राजनीतिक चिन्तन

इकाई - 1	राजनीति की यूनानी दृष्टि : सामान्य सैद्धान्तिक संकल्पनाएं	5–12
इकाई - 2	प्लेटो के विचार में राज्य और सद्जीवन	13–23
इकाई - 3	अरस्तू की 'राजनीति' : एक सामान्य परिचय	24–39

खण्ड - II प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

इकाई - 4	प्राचीन भारतीय राजनीतिक सामाजिक विचार संदर्भ	40–51
इकाई - 5	व्यास के राजनीतिक विचार	52–64
इकाई - 6	कौटिल्य के राजनीतिक विचार	65–76

खण्ड - III पूर्व आधुनिक एवं आधुनिक राजनीतिक चिन्तन

इकाई - 7	मध्य युगीन राजनीतिक दर्शन की प्रकृति	77–88
इकाई - 8	मैकियावली	89–101

खण्ड - IV आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के आधार-1

इकाई - 9	हॉब्स : निरंकुश राज्य	102–111
इकाई - 10	जॉन लॉक	112–126
इकाई - 11	राजनीति में उपयोगितावादी विचार : बेन्थम और जॉन स्टुअर्ट मिल	127–139

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति **MAPS-01**

प्रो. वी.आर. मेहता (अध्यक्ष)
पूर्व कुलपति
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

(स्व.) प्रो. इकबाल नारायण	:	4क5, जवाहर नगर, जयपुर (राज.)
प्रो. ए.पी. राणा	:	से. नि. आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा (गुजरात)
प्रो. शांति स्वरूप	:	से.नि. आचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान विभाग पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)
प्रो. थॉमस पेन्थम	:	आचार्य, राजनीतिक विज्ञान विभाग एम.एस. विश्वविद्यालय, वडोदरा (गुजरात)
डॉ. अनाम जैतली	:	कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा (संयोजक)
डॉ. लीला राम गुर्जर	:	कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

तदान्तर नियुक्त संकाय सदस्य- डॉ.अशोक वर्मा, डॉ. कर्ण सिंह

पाठ निर्माण दल

प्रो. नलिनी पंत	:	राजनीतिक विज्ञान विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी(से.नि.)
प्रो. राजेन्द्र अवस्थी	:	राजनीतिक विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ(से.नि.)
प्रो. बी.पी. श्रीवास्तव	:	7झ 26,जवाहर नगर, जयपुर(राज.)
डॉ. अनाम जैतली	:	कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा
डॉ. कमलेश शर्मा	:	इतिहास विभाग, कोटा खुला विश्वविद्यालय,
डॉ. सारा जोसफ	:	राजनीतिक विज्ञान विभाग, लेडी श्रीराम कॉलेज, नई दिल्ली
डॉ. अविजित पाठक	:	समाज विज्ञान अध्ययन केन्द्र
डॉ. नीरजा गोपाल	:	दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्वाधान में राजनीति विज्ञान अध्ययन
श्री सुनील कुकसाल	:	अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
डॉ. लीला राम गुर्जर	:	कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच कुलपति **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)**	**प्रो. एम.के. घड़ोलिया** निदेशक(**संकाय विभाग**) **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)**	**योगेन्द्र गोयल** प्रभारी अधिकारी **वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)**

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

पुनः उत्पादन - अगस्त 2012 **ISBN-13/978-81-8496-344-1**

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

इकाई–1

राजनीति की यूनानी दृष्टि : सामान्य सैद्धान्तिक संकल्पनाएं

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. विषय प्रवेश
3. मानव स्वभाव की संकल्पना
4. राज्य एवं समाज
   - 4.1 राज्य एवं समाज का सावयविक स्वरूप
   - 4.2 राज्य एवं समाज का नैतिक स्वरूप
5. राज्य एवं व्यक्ति – एक ही सिक्के के दो पहलू
6. सद्‌गुण की अवधारणा
7. यूनानी चिंतन की विविधता
8. यूनानी राजनीतिक चिंतन का विकास
9. यूनानी चिंतन का शास्त्रीय चरण
10. सारांश / यूनानी चिंतन की विशेषताएं
11. अभ्यास प्रश्न
12. संदर्भ ग्रंथ

1. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है–

(i) यूनानी राजनीतिक चिंतन से अन्तरंग परिचय प्राप्त करना;

(ii) यूनानी चिंतन में निरूपित राज्य एवं समाज के सम्बन्धों को समझना;

(iii) प्रमुख यूनानी राजनीतिक अवधारणाओं (सावयविकता, सद्‌गुण, कर्त्तव्य) से सम्बोधित होना, तथा

(iv) यूनानी राजनीतिक चिंतन के व्यापक विकास–क्रम को समझते हुए उसकी सामान्य सैद्धान्तिक संकल्पनाओं को अभिज्ञात करना।

2. विषय–प्रवेश

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि राजनीति एवं राजनीतिक अध्ययन सच्चे अर्थों में ईसा से लगभग 400–500 वर्ष पूर्व यूनानी चिन्तन से प्रारम्भ हुआ। यूनानी चिन्तन सें पूर्व हेबू चिन्तन में भी राजनीतिक विचारों की झलक मिलती है किन्तु यह विचार इतने अस्फुट थे कि इन्हें "चिन्तन" की संज्ञा देना विवादास्पद है।

यूनानी चिन्तन भी प्रारम्भ में “कबीली जीवन” (tribal life) से जुड़ा था किन्तु धीरे–धीरे “कबीली विचारो” ने राजनीतिक समुदाय के आंगिक अथवा सावयविक सिद्धान्त का स्वरूप

ग्रहण करना प्रारम्भ किया। समाज / राज्य के सावयविक सिद्धान्त की अभिव्यक्ति ही यूनानी शहर–राज्य का चिन्तन था, जिसमें प्रमुख नाम प्लेटों और अरस्तु का आता है।

यूनानी राजनीतिक चिन्तन का आधार तत्व "दर्शन", "विवेक" और "नीतिज्ञान" है। इस दृष्टि से यूनानी राजनीतिक चिंतन उस हेब्रू चिन्तन से भिन्न था जिसका निर्धारक तत्व "धर्म" एवं "भावनाएं" थी। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यूनानी चिन्तन में व्यक्ति धर्मान्धता की जंजीरों से मुक्त अपने जीवन के "दर्शन" और "उद्देश्य" का स्वयं निर्माता समझा जाता था।

3. मानव–स्वभाव की संकल्पना

मानव–स्वभाव में विवेक पर आधारित इस निर्माणक–तत्व का बोध स्वाभाविक रूप सें मानव–गरिमा पर बल देता है। इस विचार–भूमि पर, इस प्रकार, व्यक्ति की क्षमता एवं नैतिकता का अपना अलग ही स्थान है।

4. राज्य एवं समाज

4.1 राज्य एवं समाज का सावयविक स्वरूप

व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी यूनानी चिन्तन यह भूल न सका कि व्यक्ति अपना "व्यक्तित्व" अथवा अपनी "नैतिकता" अथवा अपनी "मानवता" नागरिक–समाज सें ही प्राप्त करता है। वास्तव में नागरिक समाज "व्यक्तियों का अपने में सहवास" है। इसीलिए "व्यक्ति" की अपनी पृथक गरिमा है, किन्तु फिर भी व्यक्ति अपनी गरिमा उस नागरिक–समाज से ही प्राप्त करता है जो "पूर्णत्व में गरिमामय" है। इसलिए "व्यक्ति" उस "पूर्णत्व" और उस "सावयव" से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। अरस्तु का यह कहना कि "व्यक्ति स्वभाव से ही एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है" इसी तथ्य का घोतक है।

4.2 राज्य एवं समाज का नैतिक स्वरूप

राजनीतिक समाज मात्र एक कानूनी–संरचना नहीं है। यह प्रमुख रूप सें एक नैतिक संस्था है जिसका सदस्य हो कर व्यक्ति अपनी नैतिकता एवं व्यक्तित्व में निखार लाता है। इसी विचार की ओर संकेत करते हुए अरस्तु ने यह भी कहा है कि कोई भी संविधान "केवल दफ्तरों की व्यवस्था नहीं है" (Constitution is not only "an arrangement of office"), अपितु यह "जीवन की एक शैली" ("Manner of life") है। इसी प्रकार, प्लेटो नें अपनी पुस्तक रिपब्लिक में उस आदर्श राज्य की संरचना की है जौ शाश्वत–सत्य एवं शाश्वत–ज्ञान पर आधारित है, और जिसमें "राज्य, व्यक्ति का ही वृहद स्वरूप" है ("The state is individual writ large")

बार्कर के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यूनानी चिन्तन में "राजनीतिक विज्ञान एक प्रकार की 'ट्रिलॉजी' है। यह राज्य का सिद्धान्त है, किन्तु यह नैतिकता सिद्धान्त भी है, और

कानून का सिद्धान्त भी। ("It is the theory of the state' but it is also a theory of morals and a theory of law").

5. राज्य व व्यक्ति – एक ही सिक्के के दो पहलू

राज्य के नैतिक और सावयविक स्वरूप पर बल देने के कारण, यूनानी राजनीतिक चिन्तनधारा आधुनिक चिन्तन धारा से भिन्न है। "व्यक्ति" महत्वपूर्ण होते हुए भी "राज्य" का केवल एक अभिन्न अंग मात्र है। "व्यक्ति" और "राज्य" दोनों के ही समान नैतिक उद्देश्य होने से राज्य एक ऐसा "एक्य" बन जाता है कि वह "व्यक्ति" की पूर्णता के लिए उसे बाध्य करने की क्षमता भी रखता है। प्लेटों और अरस्तु दोनों ने ही राज्य का "सद्गुण में साझीदार माना है", और इसलिए "राज्य" की महत्ता "व्यक्ति" की महत्ता सें कही अधिक है। आधुनिक राज्य में व्यक्ति के नैतिक विकास–कार्य में सहयोग एवं वृद्धि करने की आशा नहीं की जा सकती। आधुनिक राज्य सामान्यत: एक कल्याणकारी राज्य है जिसका अधिकार क्षेत्र अधिक–सें–अधिक नैतिकता के मार्ग में आने वाली व्यक्ति की बाधाओं को दूर करना है ताकि व्यक्ति कें नैतिक चरित्र का निर्माण हो सके।

क्योंकि यूनानी शहर–राज्य से यह अपेक्षा की गई है कि वह व्यक्तित्व में नैतिक दृष्टि से निखार लाए, अत: स्वाभाविक रूप से इस चिन्तन में व्यक्ति के "कर्त्तव्यों" पर विशेष ध्यान दिया गया है, न कि उसके "अधिकारों" और उसकी "स्वतन्त्रता" पर। "कर्त्तव्य" ही नागरिक के अधिकार है। प्लेटो और अरस्तु, दोनों के ही चिन्तन की आधार शिला, "व्यक्ति का समाज में स्थान और उस स्थान के कर्त्तव्य" ("My Stations and its duties") है।

इस दृष्टि से यूनानी राजनीतिक चिन्तन में राज्य न केवल एक राजनीतिक संस्था मात्र रह जाता है, वरन् वह राजनीतिक, वधिक, शैक्षणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आदि, सभी संस्थाओं का एकत्व प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि जितना छोटा समुदाय होगा उतना ही उसका एकत्व फुट होगा–और यही तथ्य यूनानी नगर–राज्य के चिन्तन की एक प्रमुख विशेषता है।

6. सद्गुण की अवधारणा

उपरोक्त वर्णन इस तथ्य का संकेत करता है कि यूनानी चिन्तन में "सदगुण" (Virtue) का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रश्न उठता है कि क्या "सदगुण" स्वाध्याय और शिक्षा से प्राप्त किया जा सकता है, अथवा पूर्वजों सें प्राप्त (Inherent) होता है, अथवा इसे आत्मसात करने का कोई अन्य माध्यम है? यूनानी चिंतन इस विषय में विविधता का घोतक है। डिमोक्रिटस और प्रोटागोरस ने "नागरिक सद्गुण" की बात कही है; उनके अनुसार सद्गुण सामाजिक ओर राजनीतिक व्यवस्था से जुड़ा है। दूसरी ओर एण्टीफोन ने व्यक्तिगत सद्गुण की बात कही है। ई०पू० पांचवी शताब्दी के सोफिस्टों के लिए सद्गुण का तात्पर्य तर्क और वाद–विवाद के प्रयोग से "मित्र बनाना और लोगों को प्रभावित करना" है। केलीक्लिस के लिए "शक्ति" प्राप्त करना और उसे स्थायित्व प्रदान करना ही सद्गुण है।

सुकरात और प्लेटो के चिंतन में सद्गुण "शाश्वत सत्य" की अथवा "निरपेक्ष नैतिक मूल्य" की अभिव्यक्ति है। प्लेटो के शिष्य अरस्तु में "सद्गुण" के इस निरपेक्ष और शाश्वत् स्वरूप कों यथार्थ और इतिहास के समीप लाने का प्रयास निहित है। यह प्रयास उद्देश्यात्मक दर्शन (Philosophy of teleology) के माध्यम सें किया गया है।

स्पष्ट है कि यूनानी चिन्तन में सामान्य विषय–वस्तु समान होते हुए भी, उसकी अभिव्यक्ति और स्वरूप में विविधता है (जैसा कि अभी हमने "सद्गुण " विषय–वस्तु के सम्बन्ध में देखा)।

7. यूनानी चिंतन की विविधता

वास्तव में विभिन्न यूनानी नगर–राज्यों के अस्तितत्व ने ही राजनीतिक चिन्तन में व्याप्त इस विविधता को सम्भव बनाया। यूनानी नगर–राज्य साधारणतया निरन्तर गतिशील थें और "परिवर्तन" उनकी मूल विशेषता थी। प्रमुख राज्यों में स्पार्टा (Sparta) ही एक ऐसा अपवाद था जहाँ संवैधानिक एवं शासकीय निरन्तरता बनी हुई थी: वहाँ सैनिक शासन तब स्थापित था। अन्य नगर–राज्यों में विकास और परिवर्तन व्यापक था और लगभग सभी में विकास / परिवर्तन का क्रम लगभग एक ही सा था– राजतन्त्र से कुलीनतंत्र, कुलीनतंत्र से निरकुंश तंत्र, निरकुंश तन्त्र से प्रजातन्त्र वास्तविक नगर राज्यों में इस गतिशीलता एवं विविधता का अस्तित्व और एक ही समय में भिन्न–भिन्न नगर–राज्यों कें शासन कें स्वरूप में विभिन्नता, राजनीतिक चिन्तन के विकास–क्रम को अछूता न छोड़ सकी। यह प्रभाव दो स्वरूपों में प्रकट हुआ।

प्रथम, संविधान और शासन तन्त्रों की विविधता ने शोध के लिए नए–नए तथ्यों को उजागर किया। इतिहास ने एक ही प्रकार के संविधान के स्थान पर अनेकानेक प्रकार के संविधान प्रस्तुत किए और इस प्रकार विभिन्न प्रकार के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव बनाया। कुलीनतंत्र का प्रजातन्त्र में परिवर्तन संघर्ष के अभाव में सम्भव न था। क्योंकि यदि "कुलीन" लोगों ने "सम्पत्ति के अधिकार" को आवश्यक माना तो साधारण जनता ने "समानता के अधिकार" को प्रमुख बताया। "अधिक (many) और 'कुछ' (few) के इस संघर्ष अथवा 'द्वन्द्व' ने अनेकानेक सिद्वान्तों को जन्म दिया।

द्वितीय, शासन–व्यवस्थाओं और विचारों की इस विविधता के मूल से एक और प्रश्न उभर कर आया कि सर्वोत्तम राज्य अथवा आदर्श राज्य कौन सा है? क्योंकि वास्तविकता इतनी विविध थी, तो स्वाभाविक रूप सें यह प्रश्न विचारणीय हो गया कि उस आदर्श–राज्य की रूप–रेखा अथवा संरचना कैसी हो कि वह अन्य राज्यों के लिए मापदंड प्रस्तुत कर सके। क्या इस प्रकार का राज्य इन कई राज्यों में से "एक" है, अथवा इसके लिए एक अन्य आदर्श स्वरुप कों संरचना की आवश्यकता है? पुन: स्थापित राज्यों में कौन सा राज्य "आदर्श कें निकटतम है? इस प्रकार "आदर्श" की खोज, यूनानी चिन्तन का एक प्रमुख विषय बन गया। इस बात पर तो प्राय: सभी चिन्तकों में सहमति थी कि आदर्श राज्य "आत्म–निर्भर" (Self–sufficient) हो एवं "नैतिक" (moral) हो, किन्तु नैतिकता का स्वरूप क्या है – इस सम्बन्ध में एक्य न था। क्या

"नैतिक" अथवा "सद्‌गुण" एक स्थिर सत्य है अथवा गतिशील / परिवर्तनशील? क्या "आदर्श" का तात्पर्य "न्याय" है? यदि हाँ, तो उसका स्वरूप क्या है?

प्लेटो के ग्रन्थ रिपब्लिक में संकल्पित आदर्श राज्य न्याय पर आधारित वह राज्य होगा जिसका आधार सुकरात का यह दर्शन है कि "सदगुण ही ज्ञान" है (Virtue is knowledge")। तात्पर्य है कि प्लेटो के अनुसार "सद्‌गुण" एक वह वस्तुगत सत्य है जिसका ज्ञान ही व्यक्ति को सद्‌गुणी बना देता है, और इस प्रकार के सद्‌गुणी नागरिकों का राज्य ही वह आदर्श राज्य है जिसमें न्याय और सत्य (Justice and righteouseness) का निवास है। सत्य गतिशील नहीं है वरन्‌ वह एक अटल एवं अपरिवर्तनशील "सत्य" है। न्याय का स्वरूप वैधिक नहीं वरन्‌ सामाजिक है। न्याय का तात्पर्य है "समाज में अपने स्थान कें कार्य को निष्ठा से करना, उसमें निपुणता प्राप्त करना और दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप न करना "(Justice is division of labour and specialization of functions.)। अरस्तु कें लिए "सामान्य न्याय" सद्‌गुण पर आधारित है, किन्तु 'विशिष्ट न्याय' के दो स्वरूप है– वितरणात्मक न्याय (distributive justice) और सुधारात्मक न्याय (Corrective justice) रिपब्लिक में कहा गया है की थ्रेसीमेकस (Thracymachus) कें अनुसार न्याय "शक्ति" पर आधारित है– "जिसकी लाठी उसकी भैंस ; और ग्लूकॉन (Glaucon) के लिए न्याय मानव "इच्छा" (desire) और "परिणाम के भय" (Fear of consequences) के मध्य एक समन्वय है।

8. यूनानी राजनीतिक चिंतन का विकास

यूनानी राजनीतिक चिन्तन का उपरोक्त विषय वस्तु विवरण, जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही कहा है, लगभग चौथी शताब्दी ईसा कें पूर्व से प्रारम्भ होता है। यहाँ यह बताना प्रासंगिक होगा कि वास्तव में प्राचीन राजनीतिक चिन्तन का इतिहास तब प्रारम्भ हुआ जब कबीली–व्यवस्था के टूटने के पश्चात्‌ मानव को एक सुव्यवस्थित व्यवस्था की स्थापना कें लिए बाध्य होना पड़ा, और इस प्रकार की सुव्यवस्थित व्यावस्था के निमर्ता के लिए सचेतन बुद्धि का प्रयोग भी उसे अनिवार्य रूप, से करना पड़ा। तात्पर्य यह है कि अब मानव प्रारम्भिक भावनाओं और भावों (instincts and emotions) के स्थान पर विवेक (reason) का प्रयोग करने के लिए बाध्य हुआ। इस क्रम में प्रारम्भ में मानव ने अपने "विवेक" के प्रयोग के स्थान पर "धर्म" “और ईश्वर” की शरण ली। यद्‌यपि, शनैः शनैः उन्हें यह प्रतीत होने लगा कि वह प्राचीन काल सें चली आ रही परम्परा और रीति–रिवाजों के आधार पर भी एक सुव्यवस्थित व्यवस्था के निर्माण में सफल हो सकते है। यह तथ्य राजनीतिक चिन्तन के "प्रारम्भ" और "विकास" का मूल है।

हेब्रू चिन्तन में कबीली व्यवस्था से राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश का लगभग यही क्रम रहा। लगभग इन्हीं वर्षो में जब हेबू जन–जाति कबीली व्यवस्था से राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश करने का प्रयास कर रही थी, यूनानी नगर–राज्य भी इसी प्रकार के विकास–क्रम से गुजर रहे थे। शताब्दियों तक छोटे–छोटे यूनानी नगर–राज्यों में भी कबीली–व्यवस्था (tribal system) थी। कबीली–व्यवस्था के समाप्त होने पर व्यक्तिवाद का युग प्रारम्भ हुआ, किन्तु

"व्यक्ति" आत्म–निर्भर न बन सका, और वह ईश्वर एवं धर्म की शरण में चला गया। सातवीं और छठी शताब्दी ईसा के पूर्व तक, यूनानियों को भी सचेतन बुद्धि (conscious reason) के प्रयोग से सुनिश्चित राजनीतिक सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकता महसूस हुई और इस प्रकार "धर्म" का स्थान "विवेक" ने ले लिया। इसी विकास–क्रम में चौथी शताब्दी ईसा कें पूर्व तक आत–आते यूनानी नगर–राज्यों ने उस प्रसिद्ध यूनानी राजनीतिक चिन्तन को जन्म दिया, जिनमें प्लेटो और अरस्तु का नाम प्रमुख है, और जिनका चिन्तन किसी–न–किसी रूप में आज तक कें सभी राजनीतिक चिन्तन को किसी–न–किसी रूप में अवश्य प्रभावित करता रहा है।

प्लेटो–अरस्तु युग के पश्चात् शनै–शनै: नगर–राज्यों के चिन्तन मेँ अभिव्यक्त आत्मीयता एवं सावयविक–समाज की अवधारणा रोमन साम्राज्य में प्रस्फुटित उस चिन्तन में विलीन हो गई जिसमें "व्यक्ति" अथवा "लघु–सावयविक–राज्य" की आत्म–निर्भरता एवं अन्तरनिर्भरता के स्थान पर विशाल साम्राज्य की एकता को पुष्ट करने वाले तत्वों, जैसे कानून, शक्ति, सार्वभौमिक प्राकृतिक विधि आदि का प्रयोग होने लगा। इस पृष्ठभूमि में "व्यक्ति" में उस "अलगाव" (alienation) की भावना का जन्म हुआ जिसमें व्यक्ति अपने–आप को और अपने क्रिया–कलापों को सामाजिक क्रिया–कलापों और सामाजिक जीवन से पृथक समझने लगे। वें अपने को अलग–अलग भी महसूस करने लगे। आधुनिक राजनीतिक–सामाजिक चिन्तन में "अलगाव" की अवधारणा एक अहम् स्थान रखती है, और इस अवधारणा के मूल में वही भावना है जों यूनानी–नगर–राज्यों के अन्त की परिस्थितियों में उपजी।

वास्तव में यूनानी–चिन्तन को काल क्रमानुसार तीन चरणों में देखा जा सकता है– पूर्व–शास्त्रीय (pre-classical), शास्त्रीय (classical) और उत्तर–शास्त्रीय (post-classical) चरण। (देखिए, मल्फोंर्ड क्यु. सिबली, पोलिटिकल आईडियाज एण्ड आईडियोलाजीज, हार्पर एण्ड रो पब्लिशर्स, न्यूयार्क पृ.10) प्रथम चरण में जो प्लेटो–अरस्तु के पूर्व का चरण है, चिन्तन का अकथ प्रयास है किन्तु इस काल का चिन्तन अपूर्ण और बिखरा हुआ सा है। शास्त्रीय–चरण में, प्लेटो–अरस्तु ने एक छोटे, सें संगठित नगर–राज्य की सावयविकता और एकत्व की धारणा को दार्शनिक एवं तात्विक स्वरूप दिया। इस स्वरूप में राज्य के सावयविक स्वरूप की अभिव्यक्ति इस दर्शन में निहित थी कि समाज की आर्थिक व्यवस्था कार्य–विभाजन (division of labour) में निहित है, और, इस प्रकार, अर्थव्यवस्था समाज की उस आंगिक एकबद्धता सें नियंत्रित है जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, नैतिक, आदि सभी सूत्र "एक–ही–स्वरूप" (A Big Form) में गुंथे हुए है। "राजनीति" और "नैतिकता:' को (आधुनिक जगत जिनकी परिधि भिन्न–भिन्न मानता है) यूनानी चिन्तन के इस चरण में एक ही सिक्के के दो पहलू कें रूप में प्रकट किया गया। किन्तु, चौथी शताब्दी ईसा कें पूर्व के पश्चात् नगर–राज्यों के टूटने और साम्राज्य–निर्माण के साथ यूनानी चिन्तन के दूसरे, चरण (शास्त्रीय चरण) की एकबद्धता समाप्त होने लगी, और एकाकीपन और अलगाव की भावना से ग्रस्त इस मानव–समाज में "स्टोइक", "सिनिक", "एपीक्यूरियन", आदि ऐसे चिन्तन का सूत्रपात हुआ, जिसमें

साधारणतया यह भावना निहित थी कि व्यक्ति समाज से दूर रह कर और अकेला ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार यूनानी चिन्तन अपने प्रथम चरण (पूर्व–शास्त्रीय काल) में "कबीली–जीवन" की अभिव्यक्ति था; दूसरे चरण (शास्त्रीय काल) में वह "राजनीतिक समाज के आगिक स्वरूप" की अभिव्यक्ति था; और अन्तिम चरण (उत्तर–शास्त्रीय काल) में उसके अन्तर्गत एक प्रकार के "सुख–वाद", "व्यक्तिवाद" तथा "भौतिकवाद" की अभिव्यक्ति विद्‌यमान थी।

9. यूनानी चिंतन का शास्त्रीय चरण

कहना न होगा कि यूनानी चिन्तन का शास्त्रीय–काल ही राजनीतिक–दार्शनिक चिन्तन के विकास का चरमोत्कर्ष था। यह चरण ईसा के पूर्व लगभग चौथी शताब्दी और उसके आस–पास का युग था। इसलिए, पिछले पृष्ठों में जब हमने यूनानी चिन्तन की विषय–वस्तु एवं विशेषताओं का विश्लेषण किया, यह विश्लेषण प्रमुख रूप से इसी काल का है।

10. सारांश

इस प्रकार यूनानी चिन्तन की प्रमुख धारा को उपरोक्त–वर्णित व्याख्या के आधार पर हम सारंश में निम्न बिन्दुओं में अंकित कर सकतें है–

यूनानी चिंतन की विशेषताएं

(1) मूलत: यूनानी चिंतन मानवतावादी है। वह मानव–गरिमा पर विशेष बल देता है।

(2) किन्तु मानव–गरिमा, शुभ जीवन (नैतिकता) की प्राप्ति में समाहित है, और मानव का नैतिक विकास अथवा शुभ–जीवन की प्राप्ति राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है। या, यूँ भी कहा जा सकता है कि यूनानी–चिंतन–धारा का प्रमुख आग्रह यह है कि व्यक्ति का राष्ट्रीय जीवन में पूर्ण सहयोंग अपरिहार्य है, और यह तभी सम्भव है जब वह अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण और सर्वोच्च विकास करे।

(3) अत: यूनानी चिंतन में व्यक्ति और राज्य (Polis) एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए है, और राज्य समाज का स्वरूप, इसलिए, एक आंगिक एकबद्धता का स्वरूप है। पोलिस के साथ समस्त मानव–मूल्य जुड़े हुए है।

(4) और, इसीलिए पोलिस अथवा नगर–राज्य प्रमुख रूप से एक "नैतिक" संस्था है। कानून से उसका सम्बन्ध प्राय: गौण है। पोलिस "नागरिकों, की पूर्णत्व में साझेदारी है।"

(5) कानून (legality) का स्थान गौण होने सें यूनानी चिंतन में "सम्प्रभुता" (Sovereignty) जैसी किसी धारणा का समावेश नहीं है।

(6) राज्य कें सावयविकाआगिक स्वरूप एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं मानवनावादी मूल्यों पर बल देने के कारण यूनानी चिंतन में ' 'व्यक्तिवाद " के आधुनिक स्वरूप का अभाव है। यूँ भी कहा जा सकता है कि यूनानी चिंतन व्यक्ति कें अधिकार और स्वतन्त्रता पर बल न देकर व्यक्ति के कर्त्तव्यों पर बल देता है।

आधुनिक राजनीतिक चिंतनधारा से, इस प्रकार, यूनानी चिंतन भिन्न है। क्योंकि जों तत्व "आधुनिकता" के आधार–बिन्दु है, उनका या तो यूनानी चिन्तन धारा में अभाव है, या उनका स्थान उसमें गौण है। आधुनिक चिंतन धारा की विशेषताएं है– व्यक्तिवाद, विज्ञानवाद और राष्ट्रीय–संप्रभु राज्य की अवधारणा। (जैसा कि हमने ऊपर देखा, यह तीनों तत्व यूनानी चिंतन में या तो नहीं है, या उनका स्थान नहीं के बराबर है)। इसके विपरीत यूनानी चिंतन धारा की विशेषताएं है– नगर–राज्य की एकबद्धता (सावयविक एकता), राजनीति एवं भावात्मक नैतिक मूल्यों की एकबद्धता, और परिणाम स्वरूप व्यक्तिवाद, सम्पपुतावाद एवं विज्ञानवाद का अभाव अथवा गौणता।

तथापि, यह बात विलक्षण है कि यूनानी–शास्त्रीय चिन्तन ने आज तक विकसित राजनीतिक चिन्तन की सभी धाराओं को किसी–न–किसी रूप में प्रभावित अवश्य किया है। अरस्तु तो आधुनिक राजनीतिक चिंतन के जनक के रूप में प्रतिष्ठित ही है।

11. अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1 : राज्य और समाज का यूनानी राजनीतिक चिंतन में क्या स्वरूप प्रतिपादित किया गया है? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2 : यूनानी चिंतन में सद्‌गुण का क्या महत्व है? उसके विविध स्वरूपों की चर्चा कीजिए।

प्रश्न 3 : यूनानी चिंतन में अपूर्व विविधता प्रकट होती है। स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 4 : यूनानी चिंतन के विकास' पर एक समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए।

प्रश्न 5 : यूनानी राजनीतिक चिंतन का शास्त्रीय चरण अपने पूर्व–शास्त्रीय तथा उत्तर–शास्त्रीय चरणों से किस प्रकार भिन्न है? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 6 : यूनानी राजनीतिक चिंतन की' क्या प्रमुख विशेषताएं है?

12. संदर्भ ग्रंथ

1. बार्कर, ई, दि पोलिटिकल थॉट ऑफ प्लेटो एण्ड एरिस्टॉट् ल, न्यूयॉर्क, डोवर पब्लिकेशन्स, 1959
2. ब्ल्हुम, डब्लयू. टी., थ्योरिज ऑफ दि पोलिटिकल सिस्टम न्यू डेल्ही, प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया, 1981.
3. सेबाइन, जी .ए., हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थ्योरी, न्य डेल्ही, ऑक्सफोर्ड एण्ड आई बी. एच. पब्लिशिंग कम्पनी, 1973 (भारतीय संस्करण)
4. सिबली, एम–क्यू., पोलिटिकल आईडियाज एण्ड आईडियोलॉजीज, न्यूयार्क, हार्पर एण्ड रो, 1970.
5. वोगेलिन, ई. प्लेटो, बैटन रॉज, ल्यूशियाना स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966
6. वेपर, सी. एल; पॉलिटिकल थॉट, लंदन, सेंट पॉल्स हाउस, 1971
7. विन्सपियर, ए. डी., दि जेनेसिस ऑफ प्लेटोज थॉट न्यूयार्क

इकाई –2

प्लेटो के विचारों में राज्य और सद्जीवन

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्लेटो की राज्य–परिकल्पना
    - 2.1 राज्य का दार्शनिक आधार
    - 2.2 सरकार की परिकल्पना
    - 2.3 सरकार और जन का समाकलन
3. राज्य ओर सद्जीवन
    - 3.1 प्लेटो द्वारा सद्जीवन की खोज क्यों ?
    - 3.2 सद्जीवन का स्वरूप–I: न्याय का संदर्भ
    - 3.3 न्याय की भ्रमौत्पादक क्षमता
    - 3.4 सद्जीवन का स्वरूप–II: धर्म (न्याय) का व्यापक संदर्भ
    - 3.5 व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता
    - 3.6 धर्म (न्याय) युक्त समाज की सरंचना का प्रारूप
    - 3.7 धर्म (न्याय) राज्य में सद्जीवन की परिचालन व्यवस्थाएं
    - 3.8 दो विचारणीय मुद्दे – चिंतन की एक दिशा
        - 3.8.1 व्यक्ति और राज्य
        - 3.8.2 सहभागिता
4. इकाई सारांश
5. अध्ययन हेतु प्रस्तावित ग्रंथ
6. इकाईगत अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य प्लेटो के विचारों में राज्य, व्यक्ति और सद्जीवन को समझना है तथा यह जानना है कि इनके पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? सद्जीवन किसका? राज्य का सद्जीवन से क्या सम्बन्ध है? राज्य और व्यक्ति का क्या सम्बन्ध है? राज्य सद्जीवन के लिए क्या करता है और कैसे करता है? व्यक्ति सद्जीवन के लिए क्या करता है? इन प्रश्नों की चर्चा प्लेटो के ग्रंथ "रिपब्लिक" के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है कियोंकि यह ग्रंथ मूल रूप से इन्हीं उठाये गए प्रश्नों से सम्बन्धित है।

राज्य एक परिकल्पना है। व्यक्ति को हम स्थूल रूप में जानते है। पर विचारकों के लिए व्यक्ति भी एक परिकल्पना है। उस आधार पर प्लेटो की भी राज्य और व्यक्ति सम्बन्धी

अपनी परिकल्पनाएं है। सर्वप्रथम यह देखने का प्रयास किया जायेगा कि प्लेटो की राज्य की क्या परिकल्पना है।

2. राज्य की परिकल्पना

प्लेटो एक यूनानी था। यूनान में राज्य और समाज दो, अलग व्यवस्थाएं नही थी। राज्य और समाज एक थे। प्लेटो की परिकल्पना का यही आधार है। दोनों में समाकलन के कारण सामाजिक जीवन और राजनीतिक जीवन बंटे हुए नहीं थे। प्लेटो का राज्य राजनीतिक और सामाजिक जीवन को समाहित किए हुए है। वास्तविकता तो यह है कि राज्य जीवन की सम्पूर्णता से सम्बन्धित एकमात्र संगठन है जो जीवन के सभी पहलुओ को व्यवस्थित करने के लिए उत्तरदायी है। यही कारण है कि प्लेटो का ग्रंथ रिपब्लिक राजनीति, नीति शास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन, धर्म, अर्थशास्त्र, शिक्षा आदि सभी विषयों की विवेचन करता है।

(प्रश्न : प्लेटो के राज्य की परिकल्पना का आधार क्या है और इसके क्या परिणाम है?)

2.1 राज्य का दार्शनिक आधार

प्लेटों का राज्य आत्मा (Soul) का बहिर्विष्ट प्रक्षेपण है। आत्मा के वह तीन घटक मानता है – बुद्धि, शौर्य और क्षुधा। राज्य में इन तीन घटकों का प्रक्षेपण तीन वर्गों कें द्वारा होंना है। बुद्धि प्रधान वर्ग, शौर्य प्रधान वर्ग और क्षुधा प्रधान वर्ग। इस प्रकार जब प्लेटो राज्य की बात करता है तो उसके विचारों में दो बातें स्पष्ट देखने को मिलती है–

1. राज्य एक विचार है, जिसमें आत्मा का विचार है और उसकी परिकल्पना आत्मा की सम्पूर्णता की परिकल्पना से की गई।
2. ऐसा करते समय वह राज्य की अर्न्तवस्तु को भी इंगित करता है। इस परिकल्पना में सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही आत्मा कें बहिर्विष्ट में देखने कों मिलते है।

आत्मा का निवास व्यक्ति में होना है। अत: वह कहता है इन तीन गुणों में से किसी एक की प्रधानता प्रत्येक व्यक्ति में होती है। यानि व्यक्ति बुद्धि, शौर्य प्रधान अथवा क्षुधा प्रधान हो सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो की बात भारतीय दर्शन कों परिलक्षित करती है। भारतीय दर्शन में सत, रज और तम की बात कही गई है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति सत् प्रधान, रज प्रधान और तय प्रधान होता है। इन्हीं के आधार पर व्यक्ति का वर्ण निश्चित किया गया है।

इस विवेचना सें दो बातें स्पष्ट होनी है। प्लेटों के विचारों में राज्य और व्यक्ति में भेद नहीं है। उसका कहना है राज्य व्यक्ति का वृहद रूप है और व्यक्ति राज्य का संक्षिप्त रूप है। यह राज्य और व्यक्ति के समाकलन का एक ठोस कारण और आधार है। द्वितीय, इन्हीं तीन गुणों के आधार पर मनुष्य के सामाजिक जीवन का तानाबाना बुना हुआ है। समस्त सामाजिक जीवन के सभी कार्य व्यापार इसी पर अधारित है। यही नही, समाज का संगठन भी व्यक्तियों कें इन गुणों के आधार पर वर्गों में बंटे हुए सामुदायिकता के आधार पर हुआ है।

यह दोनों बातें समाज और राज्य को अंगीभूत करती है। दोनों के समाकलन को प्रतिष्ठित करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भले ही प्लेटो ने यूनानी परिकल्पना को जो

राज्य और समाज को अंगभूत मानती है, स्वीकार किया हो पर दोनों कें समाकलन की यह व्यवस्था प्लेटो की अपनी थी। यह प्लेटो की अपनी मौलिकता थी और यह मौलिकता आगे चल कर प्रत्ययवादी विचारों का अलग अलग ढंग से स्त्रोत बनी।
(प्रश्न: राज्य दार्शनिकता कें आधार की व्याख्या कीजिये।)

2.2 सरकार की परिकल्पना

जब हम राज्य की बात करते है तो उसके अन्तर्गत सरकार की चर्चा अनिवार्य हो जाती है। बिना सरकार की चर्चा के राज्य की चर्चा अधूरी है। प्लेटों के इस राज्य को अनूठा अवधारणा के साथ हम यहां यह देखेगे कि उसकी सरकार की अवधारणा में क्या विशेषतायें है। यहां वह यूनानी परंपरा से हट कर बात करता है। यूनानी परंपरानुसार नागरिक सरकार चलाने के लिए सामुदायिक रूप से उत्तरदायी थे। प्रजातांत्रिक प्रणाली के अनुसार एक ही व्यक्ति अलग अलग समय पर विभिन्न भूमिकाएं निभाता था। वही कभी मजिस्ट्रेट तो कभी न्यायाधीश तो कभी सैनिक हु आ करता था। इसे विद्वानों ने 'अदक्षों की सरकार ' कहा है। प्लेटो इसका हामी नही है।

उसके अनुसार सरकार चलाना एक विशिष्ट और उत्कृष्ट कार्य है। और इसके लिए एक ऐसे विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है जो अदक्षों में सम्भव ही नहीं है। यहाँ उसके दृष्टिकोण पर सुकरात का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। सरकार मात्र प्रशासकीय व्यवस्था ही नहीं है। प्लेटो सरकार को राजनीतिक और सामाजिक जीवन (क्योंकि राज्य और समाज एक ही है) का संचालक मानता है। उसे दृष्टा होना चाहिए। वह स्पष्ट देखे की वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का लक्ष्य क्या है, उस लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग क्या है और सामुदायिक जीवन की प्रक्रिया उसी और बढ़ रही है अथवा नही। अत: सरकार का कार्य वही व्यक्ति कर सकता है जो बुद्धि प्रधान हो। ऐसा क्यो हो इसकी चर्चा आगे की गई है। जो, इस कार्य के लिए प्रशिक्षित हो केवल वें ही सरकार चलाने में सक्षम माने गए। प्लेटो प्रशिक्षण कें क्रम में शिक्षा दर्शन ओर शिक्षा योजना को विस्तार सें बताता है। ऐसा व्यक्ति योगी और तपस्वी की भांति सांसारिकता के उस माया जाल से मुक्त हों जो उसे मोहपाश में बांध कर अवांछित कार्य करनें के लिए विवश करते है। इसके लिए माया मोह से मुक्ति की उसकी अपनी योजना है जिसे विद्‌वानों ने 'प्लेटो के साम्यवाद' की संज्ञा दी है।
(प्रश्न: प्लेटो की सरकार की अवधारणा पारम्परिक युनानी मान्यता से कैसे हट कर है और क्यों?)

2.3 सरकार और जन का समाकलन

प्लेटो की सरकार की अवधारणा का अनूठापन इस बात में है कि वह सरकार व्यक्ति और जन को व्यावहारिक धरातल पर समाकलिक करता है। उसके, इस समाकलन को हम दो धरातल पर देख सकते है – सामाजिक और राजनीतिक।

सर्वप्रथम हम सामाजिक धरातल कों लेते है। सामाजिक जीवन का आधार अर्थ है। जीवन की तीन मूलभूत आवश्यकताएं रोटी, कपड़ा और मकान है। शासक इसके लिए क्षुधा

प्रधान वर्ग जिसे उत्पादक वर्ग भी कहा गया है पर अवलम्बित और आश्रित है। बिना इस अवलम्बन के वह अपना कार्य कर ही नहीं सकता। दूसरी ओर, उत्पादक वर्ग सामाजिक जीवन की प्रक्रिया सुचारू रूप से चलती रहे इसके लिए शासक पर निर्भर है।

दूसरा स्तर राजनीतिक है। राजकीय व्यवस्था की उत्कृष्टता उसकी सुरक्षात्मक व्यवस्था से आती जाती है। शासक इसके लिए एक दूसरे वर्ग पर आश्रित है। यह वर्ग शौर्य प्रधान व्यक्तियों का है, जिन्हें सैनिक वर्ग कहा गया। इनके लिए जिस शब्द का प्रयोग किया गया है वह है 'सहायक'। ये मूलत: शासक के "सहायक" है – शासक से सीधे भागीदारी इनकी नही है।

वास्तविकता तो यह है कि प्लेटों समस्त राजनीतिक और सामाजिक जीवन के सार को एक रूपरेखा में बांधता है और उसी के अन्तर्गत समस्त व्यवस्थाएं आती है।

3. राज्य और सद्जीवन

राज्य और सद्जीवन के सम्बन्ध कों समझने के लिए कुछ प्रश्नों को सामने रखना आवश्यक है। ये प्रश्न है – समाज की व्यवस्था क्यों? राज्य की व्यवस्था क्यों? फिर प्रश्न उठता है सद्जीवन किसके लिए? और प्लेटो का उत्तर है सद्जीवन व्यक्ति के लिए और समाज कें लिए। जब प्लेटो के विचारों में राज्य तथा सद् जीवन के सम्बन्धों को देखने का प्रयत्न किया जाता है तो उसका अर्थ है राज्य के द्वारा सद् जीवन की व्यवस्था को देखना।

परन्तु ऊपर कहा जा चुका है कि प्लेटों के अनुसार, व्यक्ति और समाज और राज्य अलग–अलग नहीं है – व्यक्ति राज्य का संक्षिप्त रूप है, समाज और राज्य अंगभूत है। इससे यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है कि सद् जीवन की व्यवस्था, राज्य के द्वारा, समाज के द्वारा और व्यक्ति के द्वारा होती है।

(प्रश्न: राज्य और सद्जीवन के सम्बन्ध का वास्तविक अर्थ क्या है?)

चूंकि सद्जीवन का सम्बन्ध नैतिकता से है इसलिए प्लेटों के अनुसार व्यक्ति और राज्य–समाज मूलतः नैतिक है।

3.1 प्लेटो द्वारा सद्जीवन की खोज क्यों ?

प्लेटो ने सद्जीवन को अपने विचारों का अभीष्ट क्यों बनाया? यह प्रश्न एक आवश्यक प्रश्न है। वास्तविकता यह है कि प्लेटो को जिन समस्याओं ने उद्वेलित किया वे यह थी कि व्यक्ति स्वार्थी, व्यक्तिवादी तथा लोलुप हों गया था। वह हर कार्य में अपने, को दक्ष मानता था। वास्तविक ज्ञान सें दूर वह अपने को ज्ञानी होने का दम्भ भरने लगा था। उसका अज्ञान ही ज्ञान था। स्वार्थ परायणता कें कारण समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया था–अमीर और गरीब तथा दोनों एक दूसरे के खून के प्यासे हो गये थे। समाज और राज्य तीव्र गति से पूर्ण विघटन की ओर अग्रसर थें। उसे इन सभी समस्याओं का समाधान करना था। विचार करने पर वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सभी समस्याओं के मूल में एक ही समस्या है। सभी समस्याओं की जड़ यह थी कि मनुष्य का पतन हो गया था। वह वह, नहीं रहा जो उसे होना चाहिये था। इसलिए स्वार्थ परायणता से ग्रस्त, अपने स्वार्थ में सीमित, धन तथा प्रभाव के आकर्षण में मतभ्रम उसने समाज को दो संघर्षरत वर्गों में विभक्त कर दिया था। कुछ जानते हुए, सब कुछ जानने

का दावा करते हुए, हरफनमौला की तरह वह सभी तरफ हाथ मारने को प्रेरित था। वास्तविक पारस्परिकता के लोप होने के कारण समाज का विघटन की ओर जाना एक अनिवार्यता बन गयी थी। अत: उसके समस्त मूल प्रश्न थे सद्जीवन क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जायें? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में वह व्यक्ति की, समाज की, राज्य की और सद्जीवन की चर्चा करता है। सद्जीवन सद्गुणों का प्रतिफल है।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सद्जीवन, और सदगुणों का सम्बन्ध चूंकि नीति शास्त्र से है और नैतिकता का सम्बन्ध स्वैच्छिकता से है (जैसा की नीति शास्त्री भी मानते है) तो उसको राज्य सें जोड़ने का प्रयत्न प्लेटो द्वारा क्यो किया गया? प्रश्न एक दृष्टि से ठीक होते हुए भी प्लेटो की दृष्टि से ठीक नहीं है। ऐसा क्यों इसका संकेत पीछे की चर्चा में है, फिर भी यहाँ उसे और स्पष्ट किया जा सकता है। इस संदर्भ में दो बातें कही जा सकती है। प्रथम, प्लेटो जब सद्गुण और उसके परिणाम स्वरूप सद्जीवन की बातें करता है तो वह यह बताना चाहता है कि मनुष्य को सद्गुणी होना चाहिए। मनुष्य होने कें नाते यह एक <u>अनिवार्यता</u> है। यहाँ वह अपनी बात इस दृष्टि से नहीं कह रहा है कि सद्गुणी होने में उसका उत्कर्ष है, अपितु वह यह कहना चाहता है कि मनुष्य होने के कारण (नाते नहीं) यह उसकी अनिवार्यता है। व्यक्ति के सामने सद्गुणी होने का वह विकल्प नहीं रखता। इस प्रकार वह सद्गुणों के साथ अनिवार्यता के तत्व को जोड़ देता है। यह अनिवार्यता सभी व्यक्तियों के लिए है। जो सभी कें लिए हो और अनिवार्य हों तो वह चीज राज्य से जुड़ ही जाती है।

द्वितीय, जैसा कि पीछे दिखाया जा चुका है, व्यक्ति, समाज और राज्य एक दूसरे से जुड़े हुए है। व्यक्ति और राज्य दोनों का ही उद्देश्य सद्जीवन है। राज्य सद्जीवन को स्थित और संचालित करने की व्यवस्था है। सद्जीवन व्यक्ति और राज्य की पारस्परिकता का आधार है। (प्रश्न: राज्य और सद्जीवन का सम्बन्ध क्यों और कैसे स्थिर होता है? स्पष्ट कीजिए।)

3.2 सद्जीवन का स्वरूप–I : न्याय का संदर्भ

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेगें कि सद्जीवन का प्लेटों क्या स्वरूप प्रस्तुत करता है। प्लेटो की बात को यदि सार रूप में कहें तो हम यह कहेंगे कि उसके अनुसार जब व्यक्ति वह कार्य करता है जिसको करनें के वह योग्य है तो सद्जीवन का आविर्भाव होता है। परन्तु यह कथन एक नया प्रश्न पैदा कर देता है कि हम कैसे जाने कि कौन सा व्यक्ति किस कार्य को करने के योग्य है? यहां प्लेटो का उत्तर निम्न है।

प्लेटो कहता है कि आत्मा के तीन गुण है – 1. बुद्धि 2. शौर्य और 3. क्षुधा। आगे वह यह कहता है कि व्यक्ति में इनमें से किसी एक की प्रधानता होती है। बुद्धि की प्रधानता हो सकती है। शौर्य की प्रधानता हो सकती है अथवा क्षुधा की प्रधानता हो सकती है। जिस व्यक्ति में जिस तत्व की प्रधानता हो उसी कें अनुरूप उसे कार्य करना चाहिए। अत: तीनों में से जिस एक की प्रधानता हो वही गुण व्यक्ति कें कार्य को निश्चित करता है। तत्वों से सम्बन्धित क्या कार्य है? क्षुधा से सम्बन्धित जीवन की स्थूल और मूलभूत आवश्यकताएं आती है जैसे रोटी, कपड़ा और मकान। इसीलिये क्षुधा की प्रधानता वाले व्यक्तियों को वह उत्पादक वर्ग की संज्ञा देता है। शौर्य की प्रधानता वाले व्यक्ति के लिए प्लेटो रक्षात्मक क्रियाकलापों कों निश्चित करता

है। जिनमें बुद्धि की प्रधानता है वें ऐसे व्यक्ति है जों नैतिकता, अच्छाई, बुराई को देखने की क्षमता प्रकट करते है। सद्जीवन की दिशा तथा लक्ष्य के रूप में सद्जीवन विषयक दृष्टि उन्हें उनकी बुद्धि प्रधानता विवेक प्रधान क्षमता कें कारण प्राप्त होंती है। इस प्रकार प्लेटो इस सत्य कों उद्घाटित करता है कि किस व्यक्ति का क्या कार्य है। परन्तु यहाँ फिर एक प्रश्न उठता है कि यह कैसे पता लगे कि किस व्यक्ति में आत्मा के किस गुण की प्रधानता है? यहाँ प्लेटो इस समस्या का भी समाधान प्रस्तुत करता है। गुणों की प्रधानता की जानकारी शिक्षा की प्रक्रिया से मिलती है। जब ऐसा हो (अर्थात प्रत्येक व्यक्ति वह काम करे जिसके वह काम योग्य है) तो व्यक्ति अच्छा व्यक्ति, सद्गुणी व्यक्ति हो जाता है। समाज और राज्य अच्छे– समाज और राज्य हो जाते है। इनके रहते व्यक्ति समाज और राज्य के पारस्परिक क्रियाकलापों से, नैतिकता और स्वयं सिद्धि का एक अविरल सिलसिला चल निकलता है। इसी को प्लेटो "न्याय" कहता है।

(प्रश्न: प्लेटो के अनुसार सद्गुणी व्यक्ति कौन है? इस स्थिति को दूसरा क्या नाम दिया गया है)

3.3. न्याय शब्द की भ्रमोत्पादक क्षमता –

प्लेटो के "न्याय" की परिकल्पना एक महत्वपूर्ण परिकल्पना है। पर इस शब्द कें प्रयोग से विद्यार्थियों के लिये प्राय कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि जब भी कभी "न्याय" का प्रयोग होता है तो उससे सम्बद्ध अनेक अन्य चीजों के चित्र दिमाग में उभरने लगते है। जैसे न्यायाधीश, न्यायालय, कानून, अपराध आदि और फिर जब उनको ढूंढने का प्रयास किया जाता है और प्लेटो के "न्याय" में उनकी अनुपस्थिति पायी जाती है तो न केवल कठिनाई पैदा होती है, अपितु मस्तिष्क भ्रमों के भंवर जाल में फंसता महसूस करने लगता है। कभी–कभी तो विद्वान लोग इन संदर्भों को लेकर प्लेटो के विचारों की यह कह कर आलोचना करते है कि प्लेटो ने "न्याय" की बात, "कानून" की बात नहीं की। ऐसी व्याख्या प्लेटो के मन्तव्य के साथ अन्याय करती है।

वास्तविकता तो यह है कि प्लेटो ने न तो "न्याय" शब्द का प्रयोग किया और न ही "न्याय" की व्याख्या करना उसका लक्ष्य था। उसने जिस चीज की व्याख्या की उसके लिए उसने यूनानी शब्द (उसमें यूनानी भाषा में अपना ग्रन्थ लिखा था) 'डाइकेसून' (Diakesune) का प्रयोग किया। उसका अंग्रेजी में "जस्टिस" (Justice) शब्द द्वारा अनवाद हु आ। 'जस्टिस' सही अनुवाद नहीं है। पर यह अंग्रेजी की मजबूरी रही है कि उसके पास यूनानी शब्द 'डाइकेसून' का सटीक पर्याय उपलब्ध नहीं है। पर "हिन्दी" के पास इसका सटीक और सुनिश्चित पर्याय है। वह शब्द "धर्म" है। धर्म शब्द संकुचित अर्थ में नहीं, जैसे हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म आदि। अपितु उसे व्यापक अर्थ में जिस अर्थ में इसकी चर्चा भारतीय दर्शन, जीवन दर्शन में की गई है। इस परिप्रेक्ष्य में एक ओर तो यह चार पुरूषार्थों में से एक है। (अन्य पुरूषार्थ है अर्थ, काम और मोक्ष) तो दूसरी ओर यह व्यापक नैतिक दायित्व का बोध कराता है – नैतिक दायित्व मानवता के परिप्रेक्ष्य में दैनिक मानव जीवन से सम्बन्धित है और इस क्रम में वह समस्त जीवन को

लक्ष्य से बांध कर सुनिश्चित करता है। इसलिए एक भारतीय प्लेटो के सद्जीवन तथा 'डाइकेसून' (धर्म) को किसी पश्चिम के विद्धान की अपेक्षा अधिक सही ढंग से समझ सकता है। अत: आगे हम "न्याय" शब्द का प्रयोग विद्यार्थियों की सुविधा तथा प्रचलन के कारण करेगें, पर उसके आगे सही शब्द "धर्म" को भी जोड़ देगें।

(प्रश्न: "न्याय" शब्द के प्रयोग से क्या भाव पैदा होता है? इसका जिम्मेदार कौन है? एक भारतीय को प्लेटो के अभिप्राय को पश्चिम के विद्वान की अपेक्षा अधिक भलीभांति समझने की सुविधा क्यों प्रकट की है ?)

3.4 सद्जीवन का स्वरूप – II : धर्म (न्याय) का व्यापक संदर्भ–

ऊपर की चर्चा से इस बात का ज्ञान होता है कि प्लेटो के अनुसार व्यक्ति के लिए सद्जीवन क्या है। उसका धर्म (न्याय) क्या है ? पर प्लेटो की बात यही समाप्त नहीं हो जाती– और हो भी नहीं सकती क्योंकि प्लेटो का व्यक्ति ' 'व्यक्तिवादियों " का व्यक्ति नहीं है। वह संदभित व्यक्ति है, वह सामाजिक है, वह "व्यक्ति" केवल समाज के संदर्भ में है। व्यक्ति और समाज दो अलग इकाईयां नहीं है, बिना समाज के प्लेटो के व्यक्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सद्जीवन धर्म (न्याय) का विस्तार समाज के व्यापक परिप्रेक्ष्य में करता है। उसका मानना है कि समाज (राज्य), द्वारा धर्म व्यवस्थित किया जाता है।

3.5 व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता क्यों ?

यहाँ इस प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य हो जाता है कि व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य की क्या आवश्यकता है? सामाजिक संदर्भ प्लेटो की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्व रखता है। यह महत्व उस समय और स्पष्ट हो जाएगा जब हम यह देखेंगे कि वह अपने अभीष्ट के लिए समाज की रचना का क्या चित्र प्रस्तुत करता है। हम यह देख चुके है कि प्लेटो का व्यक्ति "व्यक्तिवादियों" का व्यक्ति नहीं है। उसका व्यक्ति समाज संदर्भित है। सदगुणों और विशेषकर धर्म (न्याय) और सद्जीवन की आवश्यकता पड़ती इसलिए है क्योंकि व्यक्ति, व्यक्ति के संदर्भ में आता है, उससे वह संबन्धित होता है। रॉबिन्सन क्रूसो के लिए इस प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे समाज का और व्यक्ति का दोनों का नैतिक लाभ होता है। अत: यदि प्लेटो केवल व्यक्ति पर धर्म (न्याय) की चर्चा समाप्त कर देता तो वह अधूरी व्याख्या होती।

(प्रश्न : धर्म (न्याय) की व्याख्या समाज के परिप्रेक्ष्य में क्यों आवश्यक है?)

3.6 धर्म (न्याय) युक्त समाज की संरचना का प्रारूप –

सद्जीवन के लिए समाज में धर्म (न्याय) की व्यवस्था कैसी हो सकती है, इसको उजागर करने के लिए प्लेटो यह बताता है कि सामाजिक संरचना के मूलभूत (उसके अनुसार) सिद्धान्त क्या है? अर्थात् सही (धर्मयुक्त) समाज क्या है?

यहां वह तीन गुणों के आधार पर सामाजिक संरचना करता है। क्षुधा का सम्बन्ध रोटी कपड़ा ओर मकान से है। उसका कहना है कि यहां भी योग्यतानुसार जो रोटी (अर्थात अनाज)'

उपलब्ध कराने के लिए अधिक सक्षम हो वह उसे, और जो कपड़ा बनाने में दक्ष हों वह कपड़ा तथा जो मकान से सम्बन्धित कार्यों में निपुण है। वह उसे उपलब्ध कराये। इस प्रकार हर व्यक्ति २/३ दूसरों के लिए और १/३ अपने लिए कार्य करता है। यही से व्यक्ति का व्यक्ति से सम्बन्ध, व्यक्ति की व्यक्ति पर निर्भरता, व्यक्ति की दूसरे व्यक्तियों के लिए दिल, दिमाग और व्यवहार रखने की बातें प्रारम्भ हो जाती है। आवश्यकताओं के बढ़ने से समृद्धि तथा नई आवश्यकताओँ का जन्म होता है। ये आवश्यकतायें है सुरक्षा और व्यवस्था की। यहां उन व्यक्तियों को सामने आना पड़ता है, जो शौर्य प्रधान है। वैसे तो राज्यासमाज बन गया (राज्य के चारो तत्व इस अवस्था पर उदित हो चुके है) पर प्लेटो यहां रूकता नही। वह कहता है कि अभी कुछ प्रश्नों के उत्तर शेष है? ये प्रश्न है– राज्य/समाज की व्यवस्था क्यों? इसे किधर जाना है? इस का उद्देश्य क्या है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर है धर्म (न्याय) जो सद जवन का स्त्रोत है इसका बोध अथवा जानकारी बुद्धि द्वारा होती है। अत: अब बुद्धि प्रधान व्यक्ति सामने आते है।

इस अन्तिम तत्व को प्लेटो सब से अधिक महत्व देता है। इसलिए बुद्धि–विवेक प्रधान व्यक्ति सबसे महत्वपूर्ण हो जाते है। राज्य रूपी जहाज के कर्णधार यही व्यक्ति होते है। उन्हें लक्ष्य, दिशा का ज्ञान है, अतएव वही शासक है।

अत: प्लेटो द्वारा सरंक्षित राज्य समाज में आत्मा के तीन गुणों के अनुरूप तीन प्रकार के कार्य, तीन प्रकार के लोग (अर्थात् तीन वर्ग) है। ये परस्परिकता से जुड़े हुए है, एक सूत्र में बंधे हुए। प्लेटो इसको "समूर्ण" की संज्ञा देता है। अत: यहां धर्म (न्याय) है और इसलिए सद्जीवन है।

इस प्रकार प्लेटो का सद्जीवन धर्म (न्याय) स्तरीय प्रकट होता है व्यक्ति में और समाज/राज्य में। पर यदि वास्तविकता में देखा जाये तो यह दो स्तर वैचारिक धरातल के स्तर अधिक है। प्लेटो के विचारों में कहां व्यक्ति समाप्त होता है और कहां समाज/राज्य प्रारम्भ होता है, इसकी सीमा रेखा निश्चित नहीं की जा सकती।

प्रश्न : प्लेटो के विचारों के अनुसार समाज (राज्य) में धर्म (न्याय) तथा सद्जीवन की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

3.7 धर्म (न्याय) राज्य के सद्जीवन की परिचालन व्यवस्थाएं–

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो गया है कि राज्य सद्जीवन के लिए एक व्यवस्था है। प्लेटो सद्जीवन की व्याख्या करने के बाद एक स्वचालित समाज की कल्पना नहीं करता। राज्य के लिए सरकार अथवा शासन का होना आवश्यक है। अत: वह ऐसे (सद्जीवनकारी राज्य) राज्य के परिचालन के सम्बन्ध में व्यवस्था करता है। कार्य में निपुणता का पक्षधर होने के नाते वह शासन के प्रशिक्षण और जीवन शैली के प्रति अधिक सचेष्ट है। शासन के लिए वह शिक्षा की व्यवस्था करता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि वह शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को भावनात्मक दृष्टि से, सांस्कृतिक दृष्टि से, शारीरिक दृष्टि से और बौद्धिक दृष्टि से सद्जीवन के लिए तैयार करता है। शिक्षा सब को मिलती है। इस विषय मे व्याप्त भ्रम का निवारण आवश्यक है। प्राय:

सभी विद्वान इस भ्रम के शिकार है कि प्लेटो शिक्षा की व्यवस्था केवल शासक के लिए ही करता है। प्लेटो की शिक्षा में तीन परीक्षण की व्यवस्था: की गई है। पहले परीक्षण में अनुत्तीर्ण होने वाले रह जाते है और परीक्षण का दूसरा सोपान प्रारम्भ होता है। जो अनुत्तीर्ण रह जाते है वे क्षुधाप्रधान व्यक्ति है और उनकी अवस्था 18 वर्ष की होती है। दूसरे चरण की शिक्षा शौर्य प्रधान और बुद्धि प्रधान व्यक्तियों के लिए नियत है। दूसरे परीक्षण में जो रह जाते है वे शौर्य प्रधान व्यक्ति है क्योंकि जो रह जाते है उनकी शिक्षा "बुद्धि" तत्व को सामने रख कर की गई है। अत: शिक्षा सब पाते है। यह दूसरी बात है कि बुद्धि प्रधान व्यक्ति इस प्रक्रिया के अंतिम छोर तक बने रहते है। इसी प्रक्रिया से यह जानकारी होती है कि किस व्यक्ति में आत्मा के किस गुण की प्रधानता है। इसका उल्लेख संकेत रूप से उस स्थल पर किया जा चुका है जहां यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि सद्जीवन का अर्थ है कि व्यक्ति अपनी आत्मा में तीन गुणों में से जिसकी प्रधानता हो उसके अनुरूप कार्य करें। इसकी जीवन शैली के बारे में प्लेटो का कहना है कि शासक–माया और मोह से मुक्त हो– माया का अर्थ है धन, सम्पत्ति। मोह अपनो के प्रति होता है। सबसे अधिक मोहयुक्त अपने परिवार के लोग होते है। विद्वान इसकी चर्चा 'सम्पत्ति का साम्यवाद' (माया मुक्ति) और 'परिवार का साम्यवाद' शब्दावलियों के प्रयोग से करते है।

3.8 दो विचारणीय मुद्दे : चिन्तन की एक दिशा –

उपरोक्त चर्चा के संदर्भ में दो मुद्दों पर कुछ प्रकाश डालना और उन पर विचार करना प्रासंगिक होगा। मुद्दे है (1) व्यक्ति और राज्य में कौन किसके लिए तथा (2) व्यक्ति की सम्पूर्ण व्यवस्था में सहभागिता कैसे और किस लिए?

3.8.1 व्यक्ति और राज्य

प्लेटो के बारे में प्राय: यह धारणा प्रतिष्ठित है कि उसके विचारो में व्यक्ति राज्य के लिए है पर जो चर्चा की गयी है उसके अनुसार यह निष्कर्ष नहीं निकलता। जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है–

1. यदि व्यक्ति राज्य के लिए है तो राज्य व्यक्ति के लिए है।
2. वास्तविक साध्य दोनों में से कोई भी नहीं है। दोनों ही सद्जीवन को समपिर्त है।

3.8.2 सहभागिता

प्रचलित धारणा यह है कि प्लेटो की राजकीय व्यवस्था में शासक को छोड़ कर सहभागिता और अन्य के लिए नही है परन्तु कदाचित ऐसा नहीं है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर हम देखते है कि –

1. प्लेटो की राजकीय व्यवस्था मात्र राजनीतिक व्यवस्था ही नहीं है। उसके विचारों में राज्य और समाज दो पृथक इकाईयां नहीं है। यदि सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से देखा जाए तो व्यक्ति की सहभागिता इसमें पूर्ण है। तीन वर्गों में बंटा व्यक्ति अपनी

क्षमता के अनुसार सामाजिक संदर्भ में कार्य करता है। अपने लिए उसके कार्य में हिस्सेदारी कम और समाज के लिए अधिक है।

2. सम्पूर्ण राजकीय / सामाजिक व्यवस्था धर्म (न्याय) सद्जीवन के लिए है। धर्म / न्याय सद्जीवन का एक प्रारूप है। एक ढाँचा है। यह वस्तुशिल्पीय और नियामक है। प्लेटो इसके आधार पर तथा इसके लिए संरचित व्यवस्था को ही पूर्ण मानता है। व्यक्ति न केवल इस पूर्ण का अवयव है अपितु उसकी संचालनशीलता के लिए उत्तरदायी भी है। दार्शनिक–राजा जिस व्यवस्था का शीर्षस्थ है, वह व्यवस्था सभी व्यक्तियों की अव्यक्त सहमति पर टिकी हुई है। अव्यक्त सहमति स्वयम् सहभागिता को व्यक्त करती है। अत: सहभागिता को ढूंढते समय इस बात को सामने रखने का प्रयत्न करना चाहिए कि आज सहभागिता का जो अर्थ हम आधुनिक संदर्भ, में लेते है वह मूलत: आनुभविक है जबकि प्लेटो की सहभागिता मानकीय (Normative) है। अत: प्लेटो के विचारों में सहभागिता की बात हमें उसके विशिष्ट वैचारिक संदर्भ में ही ढूंढनी चाहिए।

संक्षेप में हम कह सकते है कि राज्य और व्यक्ति के संबंध में प्लेटो की अपनी परिकल्पनाएं है। वह दोनों कें लिए एक ही उद्देश्य – सद्जीवन निश्चित करता है। इसकी व्याख्या करना है तथा उसकी स्थापना के उद्देश्य से समाज (राज्य) की सरंचना की परिकल्पना भी प्रस्तुत करता है। इस व्याख्या को आदर्श राज्य की संज्ञा दी जाती है। इन मूलभूत मुद्दों पर विचार की प्रक्रिया में ही प्लेटो महत्वपूर्ण विषयों की विषद व्याख्या करता है।

4. इकाई सारांश

इस इकाई में आपने राज्य और सद्जीवन के विषय में प्लेटो कें विचार पढ़े। प्लेटो कें विचारों में राज्य और समाज समाकलित है। उन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं देखा जा सकता। इसी प्रकार व्यक्ति और राज्य में भी वैचारिक और मानकीय–व्यावहारिक संदर्भ में कोई भेद नही है। व्यक्ति राज्य कें लिए है और राज्य व्यक्ति के लिए। 'एक दूजे के लिए' यह दोनो ही व्यक्ति और राज्य (समाज व सरकार समेत) कों उनकी सार्थकता प्रदान करता है। जहां तक सरकार का प्रश्न है प्लेटों सरकार को एक विशेषीकृत प्रक्रिया कें रूप में स्वीकार करता है और इसके संचालन को दायित्व बुद्धि व विवेक प्रधान वर्ग को सौंपता है जिसका शीर्ष है माया–मोह के लौकिक दबाता से मुक्त शासक जिसे दार्शनिक राज 'कहना अधिक उपयुक्त होगा। भारतीय संदर्भ में कहा जाए तो ऐसा शासक 'राजर्षि' है। समाज व राज्य का प्रारूप प्लेटो नें तीन आत्मिक तत्वों पर आधारित किया जों क्रमश: ऊर्ध्वगामी आत्मिक प्रवृत्तियों कें परिचायक है – क्षुधा, शौर्य तथा वृद्धि (विवेक की यह सरंचना व्यक्ति में अन्तनिर्हित आत्मिक प्रवृत्ति को इंगित करती है जिसें प्लेटो की शिक्षा योजना परिमार्जित करती है। प्लेटो का राज्य 'इस प्रकार सद्जीवन को समर्पित एक ऐसी व्यवस्था हैं जो सभी व्यक्तियों की अव्यक्त किन्तु कार्यकारी सहमति पर टिकी हुई है। इसी सें सहभागिता चरितार्थ होंती है व्यक्ति की इस नैसर्गिक योग्यता और प्रवृत्ति से न्याय (धर्म) परिचालित होती है।

प्लेटों व्यक्ति, समाज राज्य और सरकार बल्कि समूची जीवन शैली को एक वास्तुशिल्प दृष्टि प्रदान करता है। व्यापक समन्वय, पारस्परिक समझ व सहयोग, समाज की सावयिक

एकता का भाव, उसमें व्याप्त धर्मपरायणता तथा न्यायशीलता, शिक्षा की उत्कर्षात्मक भूमिका आदि ऐसे तत्व है जिनके संयोजन से रिपब्लिक एक ग्रंथ तथा स्थायी भाव दोनों रूपों में हमारें सम्मुख प्रकट होता है।

5. अध्ययन हेतु प्रस्तावित ग्रन्थ –

(2) प्लेटो की रिपब्लिकक (मूल ग्रन्थ) अनुवादक भोलानाथ शर्मा, (विशेषकर भूमिका)

(3) डॉ.बार्कर, यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त (मूल ग्रंथ ग्रीक पोलिटिकल थियोरी का हिन्दी अनुवाद) विशेषता: न्याय, शिक्षा, साम्यवाद और आदर्श राज्य के अध्याय।

(4) एम.बी.फॉस्टर के (मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, खण्ड–1) का हिन्दी अनुवाद, राजनैतिक चिंतन के आचार्य, विशेषत: न्याय की व्याख्या

(5) जी.एच.सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थियोरी

(6) आर.एन.बरकी, वेस्टर्न पोलिटिकल शॉट

(7) के एल. वर्मा, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास

6. इकाईगत अभ्यास प्रश्न

1. प्लेटों कें राज्य की परिकल्पना की व्याख्या कीजिये।
2. सद्जीवन क्या है? इसकी प्राप्ति प्लेटों कैसे करवाता है?
3. धर्म (न्याय) की व्याख्या कीजिये। इसमें राज्य की क्या भूमिका है?
4. "व्यक्ति और राज्य का लक्ष्य सद्जीवन है" व्याख्या कीजिये।
5. सद्जीवन की चर्चा में अन्य कौन कौन से विषयों की चर्चा आ गयी है? उनकी सांदर्भिकता और अनिवार्यता बताइये।
6. शिक्षा साम्यवाद शासक कें लिए क्यों आवश्यक है?
7. शिक्षा की व्याख्या सद्जीवन के संदर्भ में कीजिए।
8. साम्यवाद की व्याख्या सद्जीवन के संदर्भ में कीजिए।

इकाई–3

अरस्तु की "राजनीति" : एक सामान्य परिचय

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. परिचयात्मक अंश
3. ज्ञान का स्वरूप और राजनीति
4. राजनीति : 'सर्वज्ञान' (Master Science)
    - 4.1 जीवन का लक्ष्य
    - 4.2 राज्य की प्रकृति व स्वरूप
    - 4.3 उत्क्रष्ट लक्ष्य व राज्य
    - 4.4 सर्वज्ञान : संदर्भीय अर्थ
5. सद्जीवन व राज्य : अवधारणात्मक लक्ष्य
    - 5.1 सद्जीवन / सुखी जीवन : स्वरूप
    - 5.2 व्यक्ति व राज्य : प्रशासनिक परिप्रेक्ष्य
    - 5.3 व्यक्ति व राज्य : नागरिकता
        - 5.3.1 नागरिकता : सहभागिता
        - 5.3.2 नागरिकता व अवकाश
    - 5.4 नागरिकता की क्रियान्विति : सम्पत्ति
    - 5.5 अच्छा व्यक्ति व अच्छा नागरिक
6. परिवर्तन व स्थिरता
    - 6.1 परिवर्तन के कारण
    - 6.2 व्यवस्था परिवर्तन
    - 6.3 स्थिरता का व्यवस्थात्मक परिप्रेक्ष्य
    - 6.4 सर्वोत्कृष्टता व स्थिरता : पोलिटी
7. इकाई सारांश
8. उपयोगी संदर्भ ग्रंथ
9. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन–उद्देश्य है–

(i) राजनीति विषयक अरस्तु की अवधारणा सें परिचय,

(ii) 'सर्वज्ञान' के रूप मे, राजनीति की मानव जीवन से अन्तरगंता का बोध;

(iii) अरस्तु की सद्जीवन की अवधारणा को चरितार्था करने वाले घटकों व प्रक्रियाओं का ज्ञान तथा राजनीति के संदर्भ में उनकी उपादेयता का विश्लेषण; तथा

(iv) परिवर्तन व स्थिरता विषयक कारकों व सर्वोत्क्रष्ट व्यवस्था से सम्बंधित अरस्तु के विचारों का अनुशीलन।

2. परिचयात्मक

अरस्तु की राजनीति एक ग्रंथ के रूप में उपलब्ध है परन्तु अरस्तु ने 'राजनीति ' नाम के ग्रंथ की रचना नहीं है। राजनीति में संकलित सामग्री वास्तव में राजनीति विषय पर उसके लेक्चर नोट्स है। यह एक अजीब विडम्बना है कि प्लेटो की उपलब्ध रचनाएं वे हैं जिनको पुस्तक के रूप में उसने लिखा था व उसके लेक्चर नोट्स का अतापता नही है, परन्तु अरस्तु द्वारा लिखित पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ गायब है और उसके लेक्चर नोट्स उपलब्ध है। इसकी राजनीति के संदर्भ में इस प्रकार कें लेक्चर नोट्स के सकंलन की त्रुटियां उस समय उभर कर सामने आएंगी जब आप अपनी दृष्टि सें उनका सांगोपांग अध्ययन करेंगे। जैसे कहीं कहीं पर बात सूत्र रूप में कही गई है, जिनकी व्यापक व्याख्या करने की आवश्यकता है। कहीं कहीं आपको बातों की पुनरावृत्ति देखनें को मिलेगी, कहीं—कहीं क्रमबद्धता का अभाव खटकेगा व कई स्थलों पर अरस्तु यह कहते, हुए पाया जाएगा कि इस बिन्दु का विशुद्ध विवेचन आगे किया गया है, परन्तु उसका विवेचन आगे कहीं नहीं उपलब्ध होगा।

फिर भी विद्वानों ने उसके विचारों की व्याख्या क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत की है और अरस्तु कों समझने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है।

अरस्तु की राजनीति के सम्बन्ध में एक तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अरस्तु प्रात अपने विशिष्ट शिष्यों के साथ घूमने जाता था और उस समय गम्भीर विषयों की चर्चा उनसे किया करता था। उसकी मेटा—फिजिक्स तथा लॉजिक ऐसी ही प्रात: चर्चा से उत्पन्न पुस्तके है। सायं काल वह सामान्य ढंग सें सभी के सम्मुख सामान्य रूचि के विषयों की चर्चा भी किया करता था। उसकी राजनीति इसी सायंकालीन चर्चा का परिणाम है। राजनीति का विषय सामान्य और सार्वभौमिक सिद्धान्तों सें सम्बद्ध है। इसकी व्यापकता वस्तुत: अरस्तु की अपनी दृष्टिगत व्यापकता का परिणाम है। अरस्तु, अरस्तु था। अत: विशिष्ट सें हट कर सामान्य होते हुए भी वह अरस्तु ही रहा। इस तथ्य ने राजनीति की निरन्तरता (बावजूद उसके कि वह शाम वाली चर्चा का विषय था) आज तक कायम रखी है।

अरस्तु की राजनीति वस्तुत: सामाजिक / राजनीतिक जीवन के व्यवस्थापक स्वरूप का अध्ययन है। यहां यह बात ध्यान देनें की है कि प्लेटो की तरह अरस्तु भी समाज व राज्य में विभेद नही करता और यही कारण है कि उसमें एक ओर जहां मनुष्य जीवन कें सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उत्क्रष्ट प्राप्य की व्याख्या है तो दूसरी ओर राजनीतिक संगठन से सम्बन्धित परिकल्पनाओं की तथा संस्थाओं की मानव जीवन के लक्ष्य के संदर्भ में भी व्याख्या है।

मानव जीवन के लक्ष्य का सम्बन्ध आचार विज्ञान (नीतिशास्त्र) सें होता है। अरस्तु इस विषय पर समुचित ध्यान देता है। इसलिए उसकी "एथिक्स" एक स्वतन्त्र रचना है परन्तु नीतिशास्त्रीय अध्ययन तथा व्यवहार सम्बन्धी ज्ञान समाज / राज्य के अंतर्गत आता है। यही

कारण है कि अरस्तु की "एथिक्स" "राजनीति" का ही अंग है। इसीलिए उसकी "राजनीति" कें अध्ययन कें साथ एथिक्स का अध्ययन आवश्यक है। संक्षेप में, राजनीति का ज्ञान उसकी रचना "राजनीति" और "एथिक्स" के सम्मिलित अध्ययन से ही सम्भव है तथा उसके मेटा–फिजिक्स का अध्ययन उपर्युक्त अध्ययन का अनिवार्य परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है।

अरस्तु में विज्ञान और दर्शन की एक सूत्रता विद्यमान है। विज्ञान और दर्शन की यह एक सूत्रता प्राचीन यूनान के ज्ञान वर्धन की एक विशेषता थी। आधुनिक समय में ऐसा नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि आज विद्वानों के कुछ सम्प्रदायों में दोनो के बीच विरोध को स्वीकार कर लिया गया है। यदि किन्हीं सम्प्रदायों ने इनका सम्बन्ध माना भी है तो विज्ञान को प्राथमिकता दें कर यह कहा है कि दर्शन को अपनी सार्थकता सिद्ध करने के लिए विज्ञान के साथ तथा उसके अनुरूप अपने को ढालना चाहिए। दोनों में सम्बन्ध और सामंजस्य की बात आज एक अच्छे विवाद का स्रोत है जिसे आप आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त को अगले सुत्र में अध्ययन करते समय देखेंगे। इसी कारण अरस्तु के विचारों का इस सम्बन्ध में एक संदर्भित महत्व है।

अरस्तु जब दोनों के साथ साथ चलने की बात करता है अथवा उन्हें एक कड़ी में पिरोता है तो वह यूनानी परम्परा का ही निर्वाह करता दिखाई देता है। अरस्तु केवल इतना ही नहीं करता। गौर से देखने पर इस विषय पर उसके योगदान का महत्व स्पष्ट होता है। अरस्तु के ज्ञान– वर्धन की दिशा में उसका वैज्ञानिक का रूप और दार्शनिक का रूप अपने अपने नेत्र के संदर्भ में दिग्गज रूप है। अत: जब ऐसा व्यक्ति दोनों कें बीच सम्बन्ध की बात दिखाना है तों कुछ विशेष ही उभर कर सामने आता है।

अरस्तु के वैज्ञानिक पक्ष को समझाने के लिए इस सम्बन्ध में उसके प्रयत्नों का संक्षिप्त अवलोकन समीचीन होगा। कहा यह जाता है कि अरस्तु ने इस दिशा में अपनी बात का वहां से प्रारम्भ किया जहां दैमौक्रीतस ने अपनी बात समाप्त की थी। पर वह उससे बहु त आगे बढ़ गया था। उसने पदार्थ – भौतिकी का अध्ययन किया। गति, स्थान, समय, सातत्य आदि के सम्बन्ध मे उसने अपने अध्ययन के आधार पर सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त, उसने चन्द्र–ग्रहण और पृथ्वी के आकार की भी मीमांसा प्रस्तुत की। अरस्तु ने वनस्पति जगत को अपने अध्ययन की परिधि में लेकर उसके सम्बन्ध में भी अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए। जीव विज्ञान कें क्षेत्र में भी वह कम गहराई सें नही उतरा। उसने सशक्त और अशक्त प्राणियों का भेद बताया और मानव का अध्ययन किया। इस प्रकार उसके अध्ययन और विचार का आधार एक उत्क्रान्ति–क्रम है जड़→वनस्पति → जीव → मानव।

मानव के अध्ययन कें लिए उसे दर्शन का सहारा लेना पड़ा – आचार शास्त्र, राजनीति और मेटा–फिजिक्स–पराविद्या कें माध्यम से यहाँ यह स्पष्ट रूप से, विदित होता है कि उसका उत्क्रान्ति–क्रम ही विज्ञान और दर्शन को परस्पर जोड़ता है। जड़ से मानव तक का क्रम एक कड़ी है। विज्ञान और दर्शन इस कड़ी के विभिन्न आयामों के स्पष्टीकरण के माध्यम है। पर ऐसा नही है कि जड़ अथवा पदार्थ से जीव तक का अध्ययन विज्ञान का क्षेत्र है और मानव का अध्ययन दर्शन का। ऐसा मानना तो दोनों में अलगाव की बात की पुष्टि करना होगा। दोनों कें

बीच अटूट संबंध तथा उसकी निरन्तरता को हमें समझना होगा और यही समझ दोनों कें संबंधों की समझ का मूल है।

अरस्तु–दर्शन का बोध उसकी कृति मेटा–फिजिक्स (परा विद्या) में मिलता है। दर्शन का अर्थ है सत्य की खोज। सत्य की खोज की व्यापकता समग्रता कों समाहित करके चलती – पदार्थ सें मानव तक जों कुछ दृष्टव्य है वह, और जों सूक्ष्म विवेक के द्वारा ग्राहय हो वह। उसकी पराविद्या (मेटाफिजिक्स) जगत कें मूल में निहित कारणों और सत्य की खोज उस सीमा तक करती है जहां तक मानव विवेक की पहुंच है। इसके अन्तर्गत प्रकृति (Matter) और आकृति (Form) दोनों समाहित है। अरस्तु नें यहां अपनें गुरू प्लेटों सें हट कर सोचा। उसका मानना है कि सत्य (वास्तविकता), प्रकृति और आकृति की परिकल्पना प्रकृति से हट कर नही की जा सकती क्योंकि सत्य (वास्तविकता) यह प्रदर्शित करता है कि वह स्वयं एक अन्त: सम्बन्धित श्रेणीबद्ध व्यवस्थाओं की समग्रता है। स्थूल (पदार्थ) से मानव तक तथा मानव विवेक से सूक्ष्म सत्योन्मुखी उत्कर्ष की उपलब्धि यहीं बताई जाती है। यही नही वह ज्ञान की प्राप्ति कें बारे में बताता है कि इसका स्रोत आनुभविक और विवेंकीय दोनों है। सम्बन्ध श्रेणीबद्ध उत्कर्षता का है। इस प्रकार बुद्धि विवेक सें वह सर्वोत्क्रष्ट तक पहुंचता है। यह "परा" है, यह ' दैवीय " है और मानव में जो दैवीय तत्व है उसी के माध्यम से वह यहां तक पहुंचने में सक्षम है। यह दैवीय तत्व मनुष्य में उसकी विवेकबुद्धि है। इसकी ज्ञान योजना को इस प्रकार दिखाया जा सकता है :

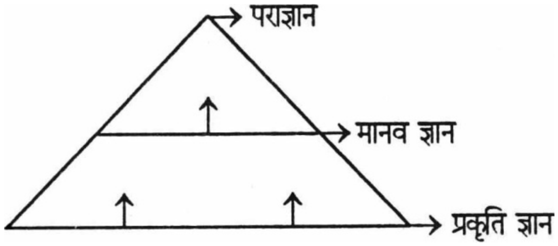

यह सम्पूर्ण योजना एक गतिशील प्रक्रिया है। ज्ञान वस्तु (जिनका ज्ञान प्राप्त किया जाता है) भी गतिशील है। दोनों की परिणति "गति–शून्य–अर्थताप–परा" में होती है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि आनुभविक ज्ञान (Empirical Knowledge) जिसपर समाज शास्त्रों की वैज्ञानिकता टिकी हुई है तथा दार्शनिक ज्ञान (Philosophical Knowledge) जिसकी आलोचना तथाकथित वैज्ञानिकता के पक्षधर करते है, (इन प्रवर्तियों का अध्ययन आप आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय करेंगे) न केवल परस्पर विरोधी नहीं है अपितु ज्ञान की कड़ी के अनन्य अंग है। सब सें बड़ी बात तो यह है कि अरस्तु के विचारों मे वैज्ञानिकता, दार्शनिकता में समाहित है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है इस विवेचना का उसकी राजनीति में क्या संदर्भित महत्व है? अरस्तु के वैज्ञानिक विषयों के वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया ने समाज शास्त्रों को बहुत कुछ दिया है। उसने वैज्ञानिक भाषा दी। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो की भाषा साहित्यिक है जबकि अरस्तु की भाषा वैज्ञानिक है। यह भी कहा जा सकता है कि आज द्वंद्वात्मकता (Dialectics) तथा सावयवी (Organismic) व्याख्या करतें समय अरस्तु की

भाषा ही प्राय: बोली जाती है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण देन उसके द्वारा काम में लिए जानें वाली पद्धतियां (Methodologies) है। उसने एक वैज्ञानिक और यथार्थवादी होने के नाते आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) आनुभविक पद्धति (Empirical Method) विश्लेषण पद्धति (Analytical Method) तथा तथ्यों का संकलन एवं वर्गीकरण (Data Collection and Categorisation) की पद्धति का भी अनुसरण किया। पर्यवेक्षण (Observation) और सत्यापन (Verification) तो सभी कें साथ चलता ही है। आज जब हम राजनीति के विज्ञान होने का दावा करते है, उसके अध्ययन में वैज्ञानिकता (Scientism) का दावा करते है तो यह दावा इन्ही वैज्ञानिक पद्धतियों के प्रयोग का दावा है यह पद्धतियाँ और वैज्ञानिकता अरस्तु कों आधुनिक राजनीति शास्त्र से जोड़ती है। यह अरस्तु की एक बड़ी प्रासंगिकता है।

अरस्तु के दर्शन का संदर्भीय महत्व उसके राजनीतिक दर्शन का महत्व है। जिस सीमा तक उसकी मेटाफिजिक्स (पराविद्या) राजनीतिक व्यक्ति और राज्य कें स्वभाव और अन्तिम लक्ष्य(और यहां पर हम उसके आचार शास्त्र को अलग नहीं कर सकते) का प्रश्न है तथा इनके द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं की बात जों व्यक्ति और राज्य की दिशा के मापक भी है, हम आगे की चर्चा में निरंतर देखेंगे। उसके दार्शनिक–परिप्रेक्ष्य की निरन्तरता की व्यापकता उसकी राजनीति में सर्वथा व्याप्त है।

3. ज्ञान का स्वरूप और राजनीति

अरस्तु ने ज्ञान की मीमांसा, की है। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि अरस्तु ज्ञान की मीमांसा के अन्तर्गत राजनीति को कहां रखता है तथा उसकी दृष्टि में राजनीति "मास्टर–साइन्स" क्यों है?

ज्ञान के सम्बन्ध में उसनें कहा है कि ज्ञान मूलत: तीन प्रकार के होते है–

1. चिन्तन ज्ञान (Speculative Knowledge)
2. उत्पादनकारी ज्ञान (Productive Knowledge) तथा
3. व्यावहारिक ज्ञान (Practical Knowledge)

प्रथम का सम्बन्ध सूक्ष्म, उत्कृष्ट तथा शाश्वत कें मनन तथा निरूपण से है। दूसरे ज्ञान का सम्बन्ध उन प्राकृतिक पदार्थो सें है जिसका रूप–परिवर्तन मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है। तीसरे का सम्बन्ध मानवीय आचरण, पारस्परिक व्यवहार के संगठित व स्वरूप रूप से है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति का व्यक्ति से सम्बन्ध, व्यक्ति का समूह से सम्बन्ध तथा समूह व व्यक्ति के पारस्परिकता के आधार पर दोनों के समदृष्टि विकास सें है। राजनीति शास्त्र उसी श्रेणी का शास्त्र है। व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि सें राजनीति उस ज्ञान का अद्वितीय, सर्वोत्क्रष्ट तथा समग्र प्रतिनिधित्व करता है।

4. राजनीति: सर्वज्ञान (Master Science)

राजनीति का सम्बन्ध राज्य से है। अरस्तु के अनुसार राजनीति सर्वज्ञान है। इस सर्व ज्ञान के अर्थ को समझने की आवश्यकता है।

सहज रूप में तो इसका अर्थ यह होता है कि अन्य सभी ज्ञान इस ज्ञान के अन्तर्गत आ जाते है। अरस्तु के अर्थ में ऐसा तो है ही, परन्तु यदि यही रूक जाएं तो अरस्तु के इस शब्द के प्रयोग के पीछे निहितार्थ प्रकट नही हो पाएगा। इसको समझने के लिए व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य तथा राज्य के स्वरुप व प्रकृति की संदर्भीय जानकारी आवश्यक है।

4.1 जीवन का लक्ष्य –

जीवन के लक्ष्य के संदर्भ में अरस्तु की स्पष्ट उद्घोषणा है कि सद्जीवन जीवन का लक्ष्य है। सद्जीवन सद्गुणों का जीवन है। इससे सुख और सन्तोष की प्राणि होती है। सुख और संतोष का स्त्रोत व माध्यम तथा क्रियान्विति व व्यावहारिकता "मैत्रीभाव" में है। मैत्रीभाव (Friendship) अरस्तु की एक अनूठी व विशिष्ट परिकल्पना है। मैत्रीभाव अथवा मित्रता से उस सम्बन्ध की अभिव्यक्ति व व्याख्या नहीं होती जिस संबंध का भान आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इस शब्द के द्वारा होता है।

अरस्तु के मैत्री–भाव का संबंध मनुष्य मे निहित उस सामाजिकता की भावना से है जो उसे दूसरे व्यक्तियों के संबंध व साहचर्य में इस उददेश्य सें लाने के लिए उत्प्रेरित करना है कि पारस्परिकता के आधार पर इस भावना के प्रवाह में बहते हुए, वह अपना उत्क्रष्ट विकास कर सकता है। सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में वे सभी सद्गुण जो उसके संपूर्ण नैतिक विकास में सहायक होते है, मैत्रीभाव उनकी जननी है।

4.2 राज्य की प्रकृति व स्वरूप –

राज्य वह संस्था है जो व्यक्ति को इस मैत्री भाव से उत्प्रेरित सद्जीवन की प्राप्ति कराता है। यहाँ पर इस बात को समझने के लिए अरस्तु द्वारा प्रतिपादित राज्य के दार्शनिक आधार को समझना पड़ेगा। यहाँ पर उसकी दार्शनिकता की जो कड़ी, राज्य का आधार बनती है वह सोद्देश्यवाद (Teleology) है। सोद्देश्यवाद उद्देश्य को बिन्दु मान कर उस बिन्दु तक पुहंचने की विकासात्मक प्रक्रिया का अन्वेषण है। उसका कहना है कि सभी पदार्थों में तथा मनुष्य में उसकी मूलप्रकृति के विकास का बीज तथा उसके पूर्ण रूपेण विकास की संभावनाएं विद्यमान होती है। इसका पूर्ण प्रस्फुटन व विकास ही इसकी मूल प्रकृति को स्पष्ट व उजागर करतें है।

राज्य ही वह संस्था है जिसके द्वारा मनुष्य में विद्यमान उसकी मूल प्रकृति का बीज तथा विकास की संभावनाएं पूर्ण रूपेण प्रस्फुटित होकर उसके स्वभाव को स्पष्ट करती है। इसके लिए अरस्तु कहता है कि इस विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ कुटुम्ब से होता है। कुटुम्ब के द्रारा जितना विकास संभव है उतना विकास हो जाने के पश्चात् व्यक्ति को आगे के विकास के लिए कुटुम्ब से बड़ी सामाजिक इकाई ग्राम (Village) में प्रवेश करना पड़ता है। ग्राम या गांव इस संदर्भ में अपनी सीमिक उपादेयता जब समाप्त कर लेता है तो उसे राज्य में प्रवेश करना पड़ता है। राज्य वह संस्था है जहां व्यक्ति का पूर्ण नैतिक विकास हो पाता है।

उपर्युक्त व्याख्या यह स्पष्ट करती है कि राज्य का संबंध मनुष्य की प्रकृति व स्वभाव से है, अतः यह (राज्य) स्वाभाविक है। यहाँ पर यह बात पुनः स्मरण करनें की है कि मनुष्य की जिस स्वाभाविकता की चर्चा की गई है उसका संबंध मैत्री भाव से है, जिसका संबंध

सामाजिकता की सभी बातों से है। अतः जिस चीज का पूर्ण रूपेण विकास होता है वह नैतिकता का व सद्जीवन का विकास है। इसीलिए राज्य को स्वाभाविक भी कहा गया है तथा यह भी कहा गया है कि "राज्य सद्जीवन के लिए है। "

4.3 उत्क्रष्ट लक्ष्य व राज्य

ऊपर यह बताया जा चुका है कि अरस्तु नें ज्ञान के तीन प्रकार बताए है। पहला स्थान उसनें चिन्तन ज्ञान को दिया है। इस संदर्भ में यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मैत्रीभाव से जिस सुख की प्राप्ति होती है वह सर्वोत्क्रष्ट नही है। सर्वोत्क्रष्ट सुख की प्राप्ति का संबंध चिन्तन ज्ञान सें है। चिन्तन विवेक और बुद्धि का प्रतिफल है। अरस्तु का कहना है कि मनुष्य में यही दैवीय तत्व है। चिन्तन और मनन के माध्यम से व्यक्ति ज्ञान अर्जित करता है तथा बुद्धिमत्ता (Wisdom) प्राप्त करता है।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि विवेक बुद्धि के आधार पर चिन्तन मनन व्यक्ति का वैयक्तिक कार्य है, अत: उसका सामाजिकता अथवा पारस्परिकता से अथवा राज्य सें क्या लेना देना है? यह क्रिया तो अर्न्तज्ञान सें सम्बंधित है व लोकोत्तर है। अत: हम अब यह देखेंगे कि राज्य से यह कैसे संबंधित है?

राज्य केवल संस्था व व्यवस्था ही नहीं है बल्कि यह मनुष्य के इस प्रकार के चिन्तन को संभव बनाने के लिए एक आवश्यक दशा है? मैत्री भाव, जिसका घनिष्ट संबंध राज्य से है, के आगे का स्तर चिन्तन–मनन है। व्यक्ति राज्य में ही इस अवस्था को प्राप्त करता है। यह क्रिया मानसिक और बौद्धिक जगत में उत्थान की क्रिया है। इससे उसका व्यावहारिक जगत (जिसका संबंध राज्य से है) छूटता नहीं है। दूसरी बात यह है कि उसके मनन के प्रतिफल का उपयोग राज्य में ही होता है। इस स्थिति को प्राप्त व्यक्ति की व्यावहारिकता उसके चिन्तन से प्रभावित होती है।

4.4 सर्व–ज्ञान: संर्दभीय अर्थ

सर्वज्ञान को समझने के लिए ऊपर कई बिन्दुओं की विवेचना की गई है। अत: सर्वज्ञान के विषय में अब जों बात निश्चयात्मक रूप से कही जा सकती है वह यह है कि– (1) राजनीति विषयक सर्वज्ञान उपर्युक्त चर्चित ज्ञान की श्रेणियों में व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र के संदर्भ में ही है तथा व्यवस्थित व संगठित सामाजिक जीवन से व्यावहारिक पक्ष की उपादेयता में वृद्धि करनें वाली न केवल सभी कलाएं इसके अन्तर्गत आती है बल्कि उनको उपादेय बनाने के लिए राजनीति द्वारा उनका संचालन व नियन्त्रण भी होता है।

(2) भले ही मनुष्य के उत्क्रष्ट विकास की बात की पृष्ठभूमि राजनीति सें जुड़ी हुई हों, उसके लिए आवश्यक दशाओं की उपलब्धि वह कराता हो तथा व्यवस्थित जीवन से संबंधित समग्र कलाओं को अपनी दृष्टि में रखता हो, फिर भी **मानव के समूचे व समग्र ज्ञान क्षेत्र से इसका संबंध नही है। यह बातें चिन्तन ज्ञान के क्षेत्र से संबंधित है।** इसकी विवेचना अरस्तु अपनी परा–विद्या (Metaphysics) जिसे वो दैव–विद्या की संज्ञा भी देता है, के अन्तर्गन करता है। यदि वह समग्र मानव जीवन के समूचे ज्ञान के क्षेत्र की परिधि में वास्तविक जगत

के मूल में निहित कारणों व सिद्धान्तों की खोज मानव विवेक की पहुंच की सीमा तक करने कें आधार पर सर्वज्ञान विशेषण का प्रयोग करता तो यह श्रेय परा–विद्‌या को जाता, परन्तु यहाँ उसका परिप्रेक्ष्य व्यावहारिक ज्ञान है और इस परिप्रेक्ष्य में राजनीति सर्वज्ञान है।

5. सद्‌जीवन व राज्य : अवधारणात्मक लक्ष्य

अरस्तु की दृष्टि में समाज / राज्य मनुष्यों के व्यवस्थित जीवन का संगठनात्मक स्वरूप है। व्यस्थित जीवन का एक लक्ष्य होता है। यहाँ अरस्तु सद्‌जीवन व सुखी जीवन को राज्य का लक्ष्य मानता है। राज्य इसी के लिए है। यही राज्य का साधन स्वरूप स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आता है।

5.1 सद्‌जीवन / सुखी जीवन : स्वरूप

जब अरस्तु सद्‌जीवन / सुखी जीवन को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता है तो प्रथम दृष्टया वह एक सामान्य बात कहता हुआ दिखाई देता है। परन्तु जब वह उसका तात्विक विवेचन तथा उसकी व्यवस्थात्मक प्रतिपादित करता है तो उसके चिन्तन का गाम्भीर्य उभर कर सामने आता है।

मनुष्य के जीवन के इस लक्ष्य के समर्थन द्‌वारा वह वस्तुतः प्लेटों की बात को दोहराता है अर्थात्‌ दोनों, प्लेटो व अरस्तु सद्‌जीवन को मनुष्य का अभीष्ट स्वीकारते है। ऊपर हमने यह देखा है कि सद्‌जीवन का स्त्रोत व संभावना मनुष्य के उस मैत्री–भाव में निहित है जो, सामाजिकता के समस्त तत्वों का स्रोत है। परन्तु सद्‌जीवन नैतिक जगत की चीज है। अतः इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है नैतिक जीवन ही सद्‌जीवन है। नैतिक दृष्टि सें सद्‌जीवन वास्तव में स्वयं एक साधन है और साध्य है सुख। हमने ऊपर सुख के बारे में यह देखा है कि वास्तविक सुख कहां है? अरस्तु ने अपनी पुस्तक "एथिक्स" में इसकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि इसका संबंध मनुष्य की उसी दैवीय संपदा से है जिसे बुद्धि/विवेक की संज्ञा दी जाती है। साथ ही इसका संबंध चिन्तन व मनन से है। चिन्तन व मनन उस सुख को प्रदान करना है जो सूक्ष्म जगत की चीज है और वह व्यक्ति को पदार्थ जगत या प्राकृतिक जगत से ऊपर उठाता है। अरस्तु इसका संबंध श्रेष्ठ भलाई से जोड़ता है। अतएव सद्‌जीवन सुखी जीवन तथा श्रेष्ठ भलाई एक ही कड़ी में पिरोये प्रकट होते है।

श्रेष्ठ भलाई की प्राप्ति की दृष्टि से भी अरस्तु ने उसकी व्याख्या की है। उसका कहना है कि भलाई–

(1) बुद्धि से तो प्राप्त की जाती है परन्तु,

(2) सच्चरित्रता इसके लिए आवश्यक है। सच्चरित्रता नियमानुसार आचरण करने के लिए बाध्य करती है, इसीलिए उसने इस स्थल पर सच्चरित्रता के निर्माण में शिक्षा को अनिवार्य बताया है। यहाँ यह समझना भी अभीष्ट होगा कि अरस्तु सच्चरित्रता के साधन व लक्षण के निमित्त मध्यम प्रतिपदा की चर्चा करता है। मध्यम प्रतिपदा या मध्यम मार्ग दो अति स्थितियों के बीच में संतुलन है। यह न केवल व्यक्ति में उत्कृष्टता का साधन व मापदण्ड है अपितु, जैसा कि हम आगे देखेंगे, सर्वोत्क्रष्ट–संभव–राज्य की नींव भी है।

राज्य व्यवस्थित जीवन का संगठनात्मक रूप होने के नाते इनको संभव बनाने के लिए एक ऐसी व्यवस्था का सूत्रपात करता है जिसका लक्ष्य श्रेष्ठ भलाई की प्राप्ति है।

5.2 व्यक्ति और राज्य : प्रशासनिक परिप्रेक्ष्य

अभी तक राज्य की जो चर्चा हुई है वह राज्य का अवधारणात्मक स्वरूप प्रस्तुत करती है। अवधारणात्मक परिप्रेक्ष्य में राज्य / समाज एक व्यवस्थात्मक संगठन है और उसका लक्ष्य सद्जीवन है। अब हम राज्य के प्रशासनात्मक स्वरूप की झलक देखने का प्रयास करेगे।

जब अरस्तु राज्य के प्रशासनात्मक रूप की चर्चा करता है तो वह अपनी बात का प्रारम्भ राज्य की प्रशासानात्मक संरचना (Constitution) से करता है। सरंचना (Constitution) का अर्थ बनावट से होता है। जैसे हम कहते है अमुक का 'कॉन्स्टीट्यूशन' (सरंचना) कमजोर है।

अरस्तु के अनुसार प्रशासनात्मक सरंचना का अर्थ है राज्य की प्रशासनात्मक संस्थाओं, संरचनाओं और पदों का नागरिकों में वितरण। यह "सामान्य रूप से नगर के शासन पर्दा का और विशेषत: सब से उच्च प्रभु–पद का संगठन है"। शासन का वर्गीकरण वह इसी आधार पर करता है – तीन विशुद्व रूप जब शासन निर्दिष्ट लक्ष्य–सद्जीवन की प्राप्ति के लिए है और इन्हीं का तीन विकृत रूप जब शासनकर्ता अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए शासन को निमित्त मान लेते है।

5.3 व्यक्ति व राज्य : नागरिकता

ऊपर कई बार हमने राज्य की व्याख्या यह कह कर की है कि यह एक व्यवस्थित संगठनात्मक स्वरूप है। इसकी व्यवस्था व संगठन व्यक्ति के माध्यम से होता है। वे इसके सदस्य है। आजकल की भाषा में राज्य के सदस्यों को नागरिक कहा जाता है। अत: अब यह देखना है कि अरस्तु को नागरिकता की क्या परिकल्पना है तथा उसके लिए किन अनिवार्यताओं को वह आधार मानता है।

5.3.1 नागरिकता : सहभागिता

अरस्तु ने नागरिक की परिभाषा यह कह कर की है कि नागरिक 'वे व्यक्ति है जो प्रशासनिक व न्यायिक कार्यो में सहभागी है।" यहां इस बात पर बल देना आवश्यक है कि अरस्तु सक्रिय सहभागिता को नागरिकता का आधार मानता है। यह उल्लेखनीय है कि अरस्तु सहभागिता को सद्जीवन के लिए, सच्चरित्रता के लिए तथा शिक्षा के लिए विशेष महत्व देता है। उसने अपने विश्वविद्यालय (लाइसियम) में यह नियम बना रखा था कि वहां का प्रत्येक आवासी बारी–बारी से 10 दिनों तक "लाइसियम" का कार्यभार तथा संचालन के लिए उत्तरदाई होगा व इस प्रक्रिया में वह किसी एक मत अथवा विचार का मण्डन करता हुआ सक्रिया होगा। इससे यह स्पष्ट है कि वह नागरिकता की शिक्षा (ट्रेनिंग इन सिटिजनशिप) के प्रति कितना सचेष्ट था।

5.3.2 नागरिकता व अवकाश

अरस्तु ने नागरिकता को तथा नागरिक को हल्के ढंग से लेने का प्रयत्न नहीं किया है। सहभागिता नागरिकता का महत्वपूर्ण नैतिक आयाम है। यह नैतिक जीवन की प्रक्रिया है, अत: उसका कहना है कि उसके लिए अवकाश (Leisure) आवश्यक है।

अवकाश का अर्थ फुर्सत से, निष्क्रियता से नहीं है वरन् इसका अर्थ है – 1. नीरस या दैनिक जीवन के मोटे व स्थूल कार्यों, नून–तेल–लकड़ी से अवकाश, तथा 2. सघन नैतिक कार्यों के लिए अवकाश। यहाँ इस प्रकार के कार्यो को समझने के लिए यह कहा जा सकता है कि यह वह कार्य है जिनका सम्बन्ध उन सांस्कृतिक संस्कारों से है जिससे व्यक्ति का उत्थान होना है। राजकीय कार्यो में सहभागिता उसका एक उत्कृष्ट स्वरूप है।

अरस्तु अवकाश को अनिवार्य ही नही बताता बल्कि उसकी व्यवस्था कैसे हो, यह भी बताता है। अवकाश की उपलब्धि दास कराते है।

दास को परिवार के संदर्भ में उत्पादन का सजीव उपकरण कहा गया है। दास वे कार्य करते है जिन्हे ऊपर दैनिक जीवन के नीरस व स्थूल कार्य बताया गया है। इन कार्यो को करके दास मालिकों को (जो नागरिक है) अवकाश प्रदान करते है। उस अर्थ में दासता नागरिकता की एक अनिवार्यता बन जाती है।

दास की वास्तविक स्थिति वही है जो आधुनिक समय मे घरेलू नौकरों (Domestic Servants) की है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि दासों की अरस्तु द्वारा प्रतिपादित अनिवार्यता यूनान में प्रचलित प्रथा की स्वीकृति मात्र ही नहीं है। दासता का औचित्य वह दासों के लिए नैतिक दृष्टि से भी ठहराता है।

दास वह व्यक्ति है जो "विवेक, बुद्धि से शून्य है"। उनमें केवल इतना विवेक है कि वे मालिक की बात समझ सकें। नैतिक विकास के लिए विवेक का होना अनिवार्य है। दास मनुष्य है और इस नाते उनका भी नैतिक विकास होना चाहिए। परन्तु दास नैतिक विकास की अनिवार्यता या विवेक, बुद्धि से शून्य है। अत: अरस्तु का मत है कि दास अपने मालिकों को नैतिक जीवन के लिए अवकाश उपलब्ध करा के परोक्ष रूप से नैतिक जीवन में सहभागी हो जाते है। इस प्रकृतिदत्त दास में विकास की संभावना से अरस्तु इंकार नहीं करता, क्योंकि वह दासों की मुक्ति की बात भी करता है। यह बात अलग है कि ऐसी संभावनाएं विरल ही है। इस आधार पर उसकी आलोचना भी हुई है।

5.4 नागरिकता की क्रियान्विति : सम्पत्ति

अवकाश की अनिवार्यता के अतिरिक्त दूसरी अनिवार्यता जिसका उल्लेख अरस्तु करता है वह यह कि नागरिक धन–सम्पन्न हो। राजकीय कार्यो में सहभागिता स्वान्त: सुखाय, नैतिक विकास के लिए है। उसकी एवज में किसी प्रकार से धन अथवा लाभ प्राप्ति की बात वर्जित है। यहाँ पर आधुनिक समय में राजनीति में सहभागिता व अरस्तु की सहभागिता के मध्य वैषम्य बड़ा ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि आधुनिक समय में सहभागिता ने व्यावसायिकता (Professionalism) का रूप धारण कर लिया है।

इस प्रकार अरस्तु की नागरिकता सीमित है। यह धन–सम्पन्न तथा विवेकयुक्त व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित है। दासों, विदेशियों, कृषकों, शिल्पियों और अन्य स्थूल कार्य करने वालों के लिए इसका कोई प्रावधान नहीं है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि वह नागरिकों के लिए योग्यता निर्धारण की बात भी करता है।

अरस्तु यथार्थवादी था। परिकल्पनात्मक सीमा में बंध कर नागरिकता की एकरूपता से ही वह बंधा नहीं रहा। यथार्थ में उसने शासन के कई प्रकार देखे और बताए। शासन के इन कई प्रकारों में नागरिकता की एक ही योग्यता कार्य नहीं कर सकती थी। जैसे राजतन्त्र व प्रजातन्त्र में नागरिकता की भिन्नता का औचित्य स्वत: स्पष्ट है। यही बात अन्य शासनों पर भी लागू होती है। वास्तविकता तो यह है कि व्यावहारिक धरातल पर नागरिकता शासन–सापेक्ष है।

5.5 अच्छा व्यक्ति व अच्छा नागरिक

उपर्युक्त विवेचना से यह बात–स्पष्ट हो गई है कि अरस्तु व्यक्ति के दो रूपों कों यथार्थवादी दृष्टि से स्वीकारता है – एक रूप व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में व दूसरा रूप व्यक्ति का नागरिक रूप में है। अत: यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या दोनों एक है या अच्छा व्यक्ति व अच्छे नागरिक में विभेद विद्‌यमान है। अरस्तु का मत है कि दोनों के अलग अलग होने की यथार्थवादी संभावनाएं है। अच्छा नागरिक वह है जो नागरिकता के दायित्वों का निर्वाह भली भांति करता है। नागरिकता के दायित्व एक प्रकार के नहीं है। अत: अच्छे नागरिक की पहचान का 'सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। अच्छा नागरिक कौन है, यह शासन व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा व बनाया जा सकता है। अच्छे नागरिक की परिकल्पना तो शासन सापेक्ष होंती है।

अच्छे व्यक्ति के संबंध में बात दूसरी है। अच्छाई का संबंध सद्‌गुण से है। अरस्तु इसकी निरपेक्ष अवधारणा प्रस्तुत करता है। अत: अच्छे आदमी की पहचान निरपेक्ष मान्यताओं के आधार पर होती है।

अच्छा व्यक्ति व नागरिक व्यवहार में भले ही विभिन्न हों परन्तु आदर्श स्थिति दोनों के एक होने में ही है। इसीलिए अरस्तु के आदर्श राज्य मे दोनों एक ही होते है।

6. परिवर्तन व स्थिरता

अरस्तु एक दार्शनिक विचारक विद्‌वान और अन्वेषक था। व्यवस्था मूलक सिद्धान्तों कों राजनीति में प्रस्तुत करना उसका अभीष्ट था। दार्शनिक की हैसियत से उसने जगत में परिवर्तन देखा। समाज/राज्य संबंधी विषय का विचारक होने के नाते इस व्यवस्था में परिवर्तन के प्रति वह उदासीन नहीं रह सकता था। उसका दावा था कि वह पहला व्यक्ति था जिसने परिवर्तन का अध्ययन उनके उत्तरदायी कारणों की खोज कें आधार पर किया है। अपनी पुस्तक "मेटाफिज़िक्स" में उसनें परिवर्तन कें चार कारण बताए है-

1. समवायी कारण (मैटीरियल कॉज़)
2. विकास या निर्माण के नियम के कारण (फॉर्मल कॉज़)
3. कर्ता या शक्ति संबंधी कारण (इफिशियेन्ट कॉज़)

4. चरम कारण (फानइल कॉज़)

राज्य के संदर्भ में जब वह परिवर्तनों के कारणों की व्याख्या करता है तो व्यवस्थाजन्य अपरिहार्यताओ के वशीभूत होकर मेटाफिजिक्स के सामान्य एवं विस्तृत परिप्रेक्ष्य सें अधिक ठोस धरातल पर उतर कर वह ऐसा करता है (पूर्णत: अलग होकर नहीं)। वह तीन दशाओं की ओर इंगित करता है। इनका परिप्रेक्ष्य मेटाफिजिक्स में वर्णित कारणों का ही है। ये दशाये निम्न है– 1. मनोदशा 2. निमित्त 3. प्रसंग या अवसर

सार्वभौम रूप से विद्वानों ने अरस्तु के परिवर्तन के लिए "क्रान्ति" शब्द का प्रयोग किया है। जिस यूनानी भाषा के शब्द का रिवोल्यूशन (क्रान्ति) रूपांतरण है वह शब्द स्तासिस (Stasis) है। स्तातिस नहीं है। मूलरूप से इसका अर्थ है राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए (अपने हित के लिए) दल बना कर परिवर्तन लाना। क्रान्ति शब्द के प्रयोग से जिस अर्थ का बोध होता है उसकी व्यापकता व सघनता इससे भिन्न है, इसीलिए अरस्तु के इस परिवर्तन के भाव को स्पष्ट करने के लिए यह बात जोड़ी जाती है कि जिस परिवर्तन की बात अरस्तु करता है वह पूर्ण क्रान्ति, आंशिक क्रान्ति, शान्तिमय क्रान्ति या खूनी क्रान्ति हो सकती है। इस प्रकार के प्रतिबन्धको की आवश्यकता "स्तासिस" को "रिवोल्यूशन" अनूदित करने का परिणाम है।

अरस्तु का कहना है कि परिवर्तन का मूल कारण अन्याय का बोध होना है। अन्याय के बोध का स्रोत असमानता की अनुभूति है। उसके अनुसार 'न्याय और न्याय से उत्पन्न होने वाले आनुपातिक समानता के सिद्धान्त' को तो सभी स्वीकार करते है पर व्यवहार क्षेत्र में इसका प्रयोग करने में वे असफल रहते है। इस असफलता के परिणाम स्वरूप अपेक्षित समानता के स्थान पर असमानता व्याप्त होती है और वह अन्याय की अनुभूति कराती है।' अत: व्यवस्था परिवर्तन के जो करण अरस्तु बताता है वे वास्तव में इसी अन्याय की अनुभूति के कारण है?

6.2 व्यवस्था परिवर्तन

अरस्तु व्यवस्था परिवर्तन के कारणों को दो स्तरों पर प्रस्तुत करता है –

1. सामान्य कारण ; तथा
2. विशिष्ट कारण।

अरस्तु ने 158 संविधानों का अध्ययन किया और उनमें परिवर्तनों के कारणों का निरीक्षण करके सामान्य नियमों को निर्धारित करने में वह सफल रहा। परिवर्तनों के सामान्य कारण–

1. कुछ लोगों का लाभ व सम्मान को अत्यधिक प्राप्त कर लेना
2. शासकों की धृष्टता,
3. कुछ व्यक्तियों को अतिशय महत्व की प्राप्ति,
4. अपनी योग्यतानुसार सम्मान व पद न प्राप्त करना,
5. प्रजाजनों या महत्वाकांक्षी प्रजाजनों का तिरस्कार,
6. भय,

7. राष्ट्र के किसी अंग की असंतुलित वृद्धि,
8. अमीर–गरीब के बीच अन्तर, आदि है।

इसके साथ ही वह कुछ सामान्य छोटे–छोटे कारणों को भी बताता है। छोटी बातें बड़ी चीजों को जन्म दे सकती है – इस ऐतिहासिक सीख से अरस्तु भली भांति परिचित था। जिन छोटे कारणों की ओर अरस्तु ध्यान दिलाता है वह है शासकों का छोटे–छोटे परिवर्तनों के प्रति उदासीनता जैसे चुनाव संबंधी षड्यन्त्र व चालबाजियां, अविश्वसनीय को शासनाधिकार की प्राप्ति, छोटी–मोटी बातों के प्रति असावधानी। इस प्रकार ऐसे परिवर्तनों के निम्न परिणाम हो सकते है–

1. सम्पूर्ण शासन व्यवस्था में परिवर्तन जैसे एकतंत्र की जगह प्रजातंत्र का आना
2. केवल पदाधिकारियों का बदलना
3. शासन के किसी अंग में परिवर्तन अथवा
4. शासन के रूप कों कम या अधिक करना जैसे प्रजातंत्र को ओर अधिक प्रजातात्रिंक या कम प्रजातांत्रिक बनाना।

इस विषय की पूर्णता की दृष्टि से अरस्तु भिन्न–भिन्न शासन पद्धतियों में परिवर्तन के विशिष्ट कारणों का भी उल्लेख करता है।

6.3 स्थिरता का व्यवस्थात्मक परिप्रेक्ष्य

अरस्तु ने परिवर्तनों की बात की है क्योंकि परिवर्तन जीवन है तथा व्यवस्थाओं का नियम है परन्तु वह स्थिरता की बात करना व्यवस्थात्मक परिप्रेक्ष्य में एक अनिवार्यता मानता है। अरस्तु समाज / राज्य को व्यक्ति के व्यवस्थित जीवन का और व्यवस्थित जीवन के लिए एक संगठन मानता है, जिसका उद्देश्य सद्जीवन है। सद्जीवन की परिकल्पना निरपेक्ष है। उसकी प्राप्ति व्यवस्थात्मक ढंग से तभी संभव है जब इस निमित्त संगठन की व्यवस्था में निरन्तरता हों। यह उल्लेखनीय है कि वह शासन के तीन विशुद्ध रूपों का वर्णन करता है। इन सभी शासन व्यवस्थाओं के अपने गुण है। कहां कौन सा शासन हो, यह बात किसी दार्शनिक द्वारा नहीं थोपी जा सकती। उसका निश्चय तो मनुष्य की अपनी पसंद, अपनी वृत्ति, अपना इतिहास, अपनी प्रतिभा व प्रकृति आदि से ही होना चाहिए। व्यवस्थात्मक स्थिरता कायम रखी जाय। अरस्तु के इस प्रयास को सामान्यत: यह बताया जाता है कि वह क्रान्तियों से बचने के उपायों को बताता है। वस्तुत यहाँ पर वह प्राथमिकता न्याय व समानता को देता है। समानता का जो भी रूप हो (भिन्न शासन व्यवस्था में उनका भिन्न–भिन्न रूप होता है, जैसे जहां योग्यता मापदण्ड हो या संपत्ति मापदण्ड हो वहां योग्यता व संपत्ति के आधार पर समानता और जहां संख्या मापदण्ड है वहां गणनात्मक समानता। उसकी अनुभूति नागरिकों को होनी चाहिए। कुशल प्रशासन जिसके अन्तर्गत शासक की निष्पक्षता और सभी प्रकार के दोषों के प्रति सजगता आती है, उसकी दूसरी अनिवार्यता है। स्थिरता के लिए अरस्तु मध्यम वर्ग की उपादेयता की बात करता है। अरस्तु के बारे मे यह कहा जाता है कि वह मध्यम मार्गी था। मध्यम प्रतिप्रदा का समर्थक था और इसी लिए वह मध्यम वर्ग को स्थिरता की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण मानता

था, परन्तु गहराई और सूक्ष्म रूप से देखने पर इसके पीछे निहितार्थ स्पष्ट हो जाता है। उसका मूल अभिप्राय सन्तुलन कायम करना था। मध्यम वर्ग एक संतुलन तुला का कार्य करता है और संतुलन स्थिरता को जन्म देता है। इसी संदर्भ में उसका यह भी सुझाव है कि अमीर व गरीब के बीच में खाई गहरी न हो। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि स्थिरता के लिए अरस्तु शिक्षा को महत्वपूर्ण मानता है। उसका यह कथन कि "नागरिकों को उनकी संविधान की आत्मानुरूप शिक्षा मिलनी चाहिए" वेद मंत्र बन गया है। शासन का जैसा प्रकार हो उसके अनुरूप ही चारित्रिक विशेषता का शिक्षा के माध्यम से पोषण होता है। जैसे यदि शासन का प्रकार प्रजातांत्रिक है तो प्रजातंत्र के अनुरूप नागरिकों के चरित्र का निर्माण होना चाहिए।

अरस्तु के राजनीति के इस अंश की प्रंशसा विद्वान यह कह कर करते है कि इस स्थल पर अरस्तु का विशुद्ध वैज्ञानिक – यथार्थवादी रूप उभर कर सामने आता है। उसने एक यथार्थवादी – वैज्ञानिक रूप में परिवर्तनों के कारणों को बताया तथा एक वैज्ञानिक – खास कर डाक्टर (वह एक डाक्टर का पुत्र था।) की हैसियत से तटस्थ–निरपेक्ष भाव से मर्ज का इलाज बताया। परन्तु उसके द्वारा परिवर्तन स्थिरता पर विचार और मनन आधुनिक राजनीतिक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में और अधिक उभरकर सामने आता है। आज ये मुद्दे आधुनिक चिन्तन के महत्वपूर्ण मुद्दे है। अरस्तु का महत्व इन मुद्दों पर चिन्तन की परम्परा का श्रीगणेश करने में है।

6.4 सर्वोत्क्रष्टता व स्थिरता : पोलिटी

स्थिरता के संबंध में अरस्तु के विचार स्पष्ट है। इसकी बात का अपना महत्व है परन्तु स्थिरता अपने आप में सर्वोत्क्रष्टता की गांरटी नहीं है। जब अरस्तु व्यक्ति को सर्वोत्क्रष्ट प्राणी मानकर, उसके सवोंत्क्रष्ट विकास की बात करता है तो यह समीचीन व संदर्भित हो जाता है कि वह सर्वोत्कृष्ट शासन व्यवस्था की बात करे। सर्वोत्क्रष्ट की बात वह आदर्श के रूप में तो प्रस्तुत करता है परन्तु अरस्तु आदर्श को उतना महत्व नहीं देता जितना की "सर्वोत्क्रष्ट संभव" को महत्व देता है। वह सर्वोत्क्रष्ट संभव राज्य जिसमें स्थिरता हो, की बात करता है। ऐसी शासन व्यवस्था को वह "पोलिटी" की संज्ञा देता है।

पोलिटी वस्तुतः प्रजातंत्र व कुलीनतंत्र का सम्मिश्रण है। इस मिश्रण में दो बातें देखने योग्य है – प्रथम, कुलीनतंत्रीय तत्व गुणवत्ता को व्यवस्थात्मक प्रक्रिया में समाविष्ट करता है तो दूसरी ओर प्रजातंत्र संख्यात्मकता के तत्व को समाविष्ट करता है। इस प्रकार यह मिश्रण उपादेय है। द्वितीय, प्राय परिवर्तन इन दोनों तत्वों के एकात्मक स्वरूप की अति के कारण होते है। यह सम्मिश्रण दोनों के संतुलित सह–अस्तित्व को प्रस्तुत करके, एक के दूसरे से भय का समाधान कर देता है। इस तरह स्थिरता कायम हो पाती है।

पोलिटी मध्यम वर्ग के हाथों में प्रशासकीय सत्ता सौंपती है। मध्यम वर्ग के संबंध मे ऊपर कुछ संकेत दिये जा चुके है। इसके संदर्भ को और स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि यूनानी विचारधारा व संस्कृति में जिन सद्‌गुणों को बताया गया है वे जीवन में संतुलन व सांमजस्य से प्रकट व स्थिर होते है।

सांमजस्य या सुमेल (Harmony) की बात प्लेटो ने भी की थी। वास्तव में यहां अरस्तु सामंजस्य व मेल की बात को आगे बढ़ाता हुआ व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में मध्यम वर्ग द्वारा उनकी व्याख्या व प्रतिपादन करता है। मध्यम वर्ग द्वारा वह संतुलन को निश्चितता प्रदान करता है। संतुलन में स्वत: स्थिरता की बात विद्यमान है।

पोलिटी की सर्वोत्क्रष्टता व स्थिरता इस व्यवस्था के अन्तर्गत तदर्थ न्याय द्वारा भी सम्भव होती है। तदर्थ न्याय से जहां एक ओर प्रत्येक व्यक्ति की संतुष्टि होती है, वही प्रत्येक व्यक्ति के उत्क्रष्ट का योगदान भी इस व्यवस्था से होता रहता है।

यह बात कम महत्व की नहीं है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत विधि के शासन (Rule of Law) की अनिवार्यता है। यह बात उल्लेखनीय है कि अरस्तु ने अपने गुरू प्लेटो के दार्शनिक राज्य के शासन के मुकाबले विधि के शासन को श्रेयस्कर माना है। विधि संचित, निरपेक्ष बुद्धि का समूह है। इसका शासन से दूर, प्रशासनिक उत्कृष्टता को अपना लक्ष्य बनाता है। अरस्तु इसका इतना बड़ा है कि वह कहता है कि विधि के शासन के अभाव मे राज्य, राज्य नहीं रह जाता।

7. इकाई सारांश

अरस्तु का ग्रन्थ “राजनीति” विचारों एवं प्रक्रियाओं की दृष्टि से एक अत्यधिक उपयोगी ग्रंथ है। 'राजनीति' ग्रंथ ज्ञान की सर्वव्यापकता पर आधारित है। इसमें प्राकृतिक विज्ञानी, अन्य सामाजिक विज्ञानों, पराविद्या तथा नीतिशास्त्र का अनुपम समावेश है। मानव जीवन के क्रम में अरस्तु इन समस्त शास्त्रों को यथोचित स्थान देता है और राजनीति को इनके संबंध में संयोजनकारी भूमिका प्रदान करता है। इसी अर्थ में राजनीति 'सर्वज्ञान' (Master Science) है। 'सर्वज्ञान' जीवन के लक्ष्यों से संबोधित होती है और उन्हें व्यावहारिक संदर्भ प्रदान करने के विविध उपाय सुझाती है। जीवन का उद्देश्य सद्जीवन है। अरस्तु का विचार है कि राज्य ही वह संस्था है जिसमें मानव की नैसर्गिक प्रकृति का बीज प्रस्फुटित होता है और उसी में उसके विशाल वृक्ष के रूप में प्रकट होने की सम्भावनाएं निहित होती है। व्यावहारिक क्रियाशीलता की दृष्टि से अरस्तु सरकार को बुद्धि, विवेक व सच्चरित्रता पर आधारित मानता है। बुद्धि, विवेक व सच्चरित्रता नैतिक विकास पर आधारित है। इसी से राजनीति संचालन की विशेषता प्रकट होती है। अत: शासक 'विशेषज्ञ' है और सरकार का संचालन एक 'विशेषज्ञ गतिविधि'। नागरिकता व दासता इस विशेषता के निर्वाह की आवश्यक शर्ते है।

अरस्तु ने अपने वैचारिक क्रम में परिवर्तन व स्थिरता पर पर्याप्त बल दिया है। उसके अनुसार परिवर्तन तब होता है जब अन्याय की प्रबल अनुभूति होती है। अन्याय मूलक स्थितियों के निराकरण से परिवर्तन परिसीमित हो सकता है और स्थिरता उपलब्ध हो सकती है जो कि सामाजिक सत्त्व पर आधारित होती है। अरस्तु की दृष्टि में 'पलटी' ऐसी व्यवस्था है जो सर्वोत्कृष्ट सामाजिकता का संसाधन करती है।

अरस्तु एक विचारक तो था ही। साथ ही, उसे प्रथम राजनीति शाखी ' भी कहा जाता है। आनुभविक राजनीतिक विश्लेषण का वह जनक है। आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों के अनेक पक्ष उसके ग्रंथ में सर्वप्रथम प्रकट होते है। यही अरस्तु की महत्ता का स्वर्णिम पक्ष है।

8. उपयोगी संदर्भ ग्रंथ

1. अरस्तु	:	राजनीति (अ. भोलानाथ शर्मा)
2. अर्नेस्ट बार्कर	:	पोलिटिकल थॉट ऑफ प्लेटो एण्ड एरिस्टोटल
3. एम बी फॉस्टर	:	मास्टर्स ऑफ पोलिटिकल थॉट, खण्ड –I (हिन्दी अनुवाद उपलब्ध)
4. आर.ए.एन. बर्की	:	दि हिस्ट्री आफ पोलिटिकल थॉट
5. बी.पी.श्रीवास्तव एवं डी.बी.माथुर	:	प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

9. अभ्यास–प्रश्न

1. 'पालिटिक्स' तथा 'मेटाफिजिक्स' व 'एथिक्स' अरस्तु की विचार योजना में किस प्रकार संयोजित है? स्पष्ट कीजिए।
2. 'सर्वज्ञान' से क्या अभिप्राय है? सर्वज्ञान का संदर्भीय अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. सद्जीवन क्या है? अरस्तु के अनुसार राज्य किस प्रकार सद्जीवन सम्भव बनाता है?
4. 'अरस्तु के विचारों में नागरिकता, अवकाश तथा सम्पत्ति के महत्व की चर्चा कीजिए।
5. 'अरस्तु प्रथम व्यक्ति था जिसने परिवर्तन का अध्ययन उनके उत्तरदायी कारणों की खोज के आधार पर किया"। विवेचना कीजिए।
6. स्थिरता का व्यवस्थात्मक परिप्रेक्ष्य क्या है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई–4

प्राचीन भारतीय राजनीतिक – सामाजिक विचार संदर्भ

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना एवं विषय–प्रवेश
3. प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार
   - 3.1 प्रतिनिधि राजनीतिक विचार–स्रोत
   - 3.2 राजनीतिक विचारों का मूल स्वरूप एवं प्रकृति
4. राजनीतिक विचार तथा तत्कालीन भारतीय समाज
5. सारांश
6. उद्धरण एवं टिप्पणिया
7. अभ्यास–प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के निम्नलिखित उद्देश्य है–

(i) प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों की व्यापक भाव–भूमि एवं ऐतिहासिक विकास–यात्रा से परिचय;

(ii) तत्कालीन विचारों के भारतीय सामाजिक विकास पर प्रभाव का आकलन;

(iii) राजनीतिक विचारों की निरन्तरता व उनकी सामाजिक प्रासंगिकता के प्रति समझ का विकास; तथा

(iv) भारतीय राजनीतिक विचारों के संस्क्रति–सापेक्ष स्वरूप के आधार पर पाश्चात्य राजनीतिक विचारों से उनके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन।

2. प्रस्तावना एवं विषय प्रवेश

प्रत्येक सुसंस्कृत समाज में विचार और समाज पारस्परिकता के परिवेश में पनपते है। विचारों का प्रवाह सामाजिक गतिशीलता कों बल देता है और सामाजिक गतिशीलता सें वैचारिक प्रवाह को गति प्राप्त होती है। पारस्परिकता स्वयं सदैव यथावत् नहीं रहती। मानवीय संवेगनाओं, अभिप्रेरणाओं और क्रियाशीलता के घटते–बढ़ते दायरे में विचार–प्रवाह और समाज दोनों सिमटते फैलते प्रकट होते है। इसलिए विचारों का विकास कभी सरल रेखीय आधार पर नहीं होता। उसका प्राकट्य और निवास तो वर्तुलाकार और श्रृंखलाबद्ध होता है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में कमजोर वर्तुल कभी टूट जाता है, विचार अश्रृंखलाकार हो जाते है तो नये माननीय संवेग, अनुभव और सृजनशीलता विचारों को फिर से श्रृंखलाबद्ध कर देती है। इस प्रकार, टूटते–बनते विचारों की सतत् नई विकास–यात्राएं समायोजित होती है। इतिहास विचार और समाज दोनों को आधार देता है और उस आधार पर वह उन्हें वर्तमान से जुड़ने और भविष्य के प्रति आश्वस्त

रहने का सम्बल भी प्रदान करता है। विचारों के, कई स्तर होते है – कुछ विचार तो समय सापेक्ष होते है और कालचक्र के चलते वे कुछ समय बाद अप्रासंगिक हो जाते है, कुछ विचार समाज–संस्कृति सापेक्ष होते है और उस परिवेश में बदलते–पनपते रहते है जबकि कुछ अन्य विचार काल–निरपेक्ष, संस्कृति–निरपेक्ष बल्कि कालातीत होते हुए सर्वकालिक और सार्वभौमिक बन जाते है। विचारों के इस पदसोपान के प्रति समझ चिंतन और कर्म दोनों के लिए अति आवश्यक है।

भारतीय चिंतन और समाज उपरोक्त वर्णित तथ्यों का अपवाद नहीं है। भारत में राजनीति विचार और समाज एक दूसरे को ऐतिहासिक क्रम में हृष्ट–पुष्ट करते आए है। इसलिए यहां भी विचार और सामाजिक विकास प्रक्रियाओं को एक–दूसरे से अलग नहीं देखा जा सकता। यह पारस्परिक विकास सदैव समानरूपी नहीं रहा है। ऐतिहासिक कालक्रम में सामाजिक विघटन और अवरोध तथा राजनीतिक अस्त–व्यस्तता ने वैचारिक क्रम को भी अवरूद्ध किया है। इसके बावजूद वैकल्पिक विचार पनपे है जो काल–सापेक्ष होते हुए भी पूर्ववर्ती विचारों की कड़ी को कमोबेश आगे बढ़ाते आए है। वैचारिक निरन्तरता का एक वैचारिक कीर्ति–स्तम्भ यह रहा है कि भारत में राजनीतिक विचार एक परम्परा के रूप में अनासक्त विवेक (Disinterested Wisdom) तथा प्रभावी राजनीतिक शक्ति (Effective Political Power) के मध्य एक गठबंधन का' आग्रह करते है। इस युग्म से ही मनन और कर्म के मध्य एक व्यवहार्य सेतु बन सकता है जो सांस्कृतिक विकास के साथ राजनीतिक सामाजिक विकास की परिकल्पना करता है।

प्रस्तुत इकाई में विभिन्न ऐतिहासिक काल–चरणों में राजनीतिक विचारों एवं भारतीय सामाजिक स्थितियों का समानुवर्ती लेखा–जोखा दिया जा रहा है। यह इकाई अतएव प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक संदर्भ में उक्त विवेचना संयोजित करती है। यह विभाजन मात्र' प्रचलित आधार पर ही है और केवल बोधगम्यता की दृष्टि से ही इसे स्वीकार किया जा रहा है। भारतीय मनीषा ऐसे किसी भी विभाजन को कतई स्वीकार नहीं करती। संस्कृति को बुद्धिमत्ता की एक चिरन्तन परम्परा माना जाता है। परंपरा सैदव पुनर्नवा है और अनुभवों की सामाजिक परंपरा से संस्कृति का विकास होता है। निस्संदेह, संस्कृति के विकास में राजनीतिक विचारों समेत समग्र विचारों का विकास समाहित है। ऐसी स्थिति में इतिहास–खण्ड कोई मूल्यवत्ता नही रख सकतें। अखण्ड काल और उसकी अखण्डित चेतना समस्त विकास क्रमों का मूल आधार है। इस अर्थ में संस्कृति और विचार खण्डित सत्य की सत्ता स्वीकार ही नहीं कर सकते।

3. प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं सामाजिक स्थितियां

3.1 प्रतिनिधि राजनीतिक विचार–स्त्रोत

प्राचीन भारतीय विचार एवं चिंतन के स्त्रोत प्रामाणिक रूप से वैदिक वाङ्गमय विशेषत: ऋग्वेद में उपलब्ध है। परवर्ती काल में मनु–स्मृति तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा भी उनका पर्याप्त संवर्द्धन होता है। महर्षि वाल्मीकि की रामायण तथा महर्षि व्यास कृत महाभारत अपने महाकाव्य रूप में भी राजनीतिक विचारक्रमों तथा मान्यताओं एवं व्यवहारों को सुसंगठित रूप सें

अभिव्यक्ति देते है। जैन विचार परम्परा में राजनीतिक – दार्शनिक मंतव्य विशेषत: नन्दीसूत्र, यशस्तिलकचम्पू, नीतिवाक्यामृतम तथा कुमारपाल–प्रतिबोध: से प्रकट होते है। बौध चिंतन के राजनीतिक सूत्र मुख्यत दिघ निकाय तथा जातक कथाओ से संकलित किए जा सकते है।

प्राचीन राजनीतिक विचार एवं प्रक्रियाओं की सुस्पष्ट व्याख्या के लिए मूलत: निम्नलिखित ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय है : –

1. आनन्द कुमारस्वामी, स्पिरिचुअल अथॉरिटी एण्ड टेम्पोरल पॉवर इन दि इन्डियन थ्योरी ऑफ गवर्नमेन्ट (नई दिल्ली, मुंशीराम मनोहर लाल,1978)
2. बेनीप्रसाद, थ्योरी ऑफ गवर्नमेन्ट इन एन्सिएंट इंडिया
3. यू.एन. घोषाल, फाउन्डेशन ऑफ इन्डियन पोलिटिकल आइडियाज (मद्रास, ऑक्स्फ़ोर्ड,1996)
4. जी. सी. पान्हे, फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर - डाइमेशन्स ऑफ एन्शिएंन्ट इंडियन सोशल हिस्टरी (दो खण्डो मे), नई दिल्ली, बुक्स एण्ड बुक्स, 1984
5. वी.पी. वर्मा, एन्शिएंन्ट एण्ड मिडिएवल इंडियन थॉट (आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 1986.
6. वी.आर. मेहता, फाउन्डेशन्स ऑफ इन्डियन पोलिटिकल थॉट (नई दिल्ली, मनोहर, 1992)

3.2 राजनीतिक विचारों का मूल स्वरूप एवं प्रकृति

प्राचीन भारत में राजनीतिक विचारों 'की परम्परा का संगठित सूत्रपात वैदिक वाङ्मय द्वारा प्रस्तुत होता है। इस संदर्भ में ऋत एक मूलभूत विचार–योजना को चरितार्थ करता है। ऋत व्यवस्था के आदर्श नियामक सिद्धान्त के रूप में सृष्टि को अभिधारित, संरक्षित तथा परिपालित करता है। ऋत निर्मित व्यवस्था में सभी व्यक्ति अपनी नैसर्गिक प्रतिभा और पूर्णता प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद में ऋत के अतिरिक्त एक अन्य अवधारणा भी उपलब्ध है – स्वधा इसका अर्थ है स्वयं की प्रकृति तथा उस प्रकृति की अनुपालना। समस्त चराचर जगत स्वधा से अभिप्रेरित तथा संचालित होता है। स्वधा वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यवस्था का आधार बनती है। भारत में जाति–व्यवस्था का मूल आधार स्वधा रहा है।[2]

सामाजिक व्यवस्था का मौलिक संचालन ऋत द्वारा होता है यद्यपि विशिष्ट सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऋत से उत्पन्न व्रत का सूत्रपात होता है। व्रत की व्यक्तिनिष्ठ तथा व्यापक समाजनिष्ठ अनुपालना वैयक्तिक तथा सामाजिक न्याय का सृजन करती है। इस अर्थ में स्वधा तथा व्रत वस्तुत: ऋत के ही सामाजिक पक्ष माने गए।

वैदिक वाङ्मय के इन वैचारिक सूत्रों को संयोजित करते हुए प्रो. 'विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने ऋत–सम्प्रभुतावाद की अवधारणा प्रतिपादित की है। प्रो.वर्मा के अनुसार ऋत–सम्प्रभुता, जनसम्प्रभुता जन–सम्प्रभुता तथा संवैधानिक सम्प्रभुता में कार्य–कारण सम्बन्ध (Causal relationship) व्याप्त है।' ऋत सम्प्रभुता के नैतिक व एकीकरण भाव से जन–सम्प्रभुता प्रबल चेतना प्राप्त करती है और नीतियुक्त / एकताकारी जन चेतना संवैधानिक सम्प्रभुता को समुचित प्रभाव व प्रवाह देती है। "निस्संदेह, वैदिक वाङ्मय राजनीतिक चेतना को सबसे पहले व्यक्त

करता है और उससे राजनीतिक चेतना के नियामक पक्षो दूत, स्वधा, व्रत न्याय आदि की पर्याप्त विवेचना भी प्रकट होती है।

वेदों में निहित सृष्टि विषयक चेतना को व्यापक दृष्टि प्रदान करने का योगदान मनु द्वारा किया गया। इसीलिए मनु को "मानवता के प्रथम शिक्षक" तथा "प्रथम विधायक" (First Legislator) की संज्ञा दी गई है। उनकी कृति मनुस्मृति में उन नियमों आदि का विशद वर्णन है जो सदाचारी राज्य से लेकर सदाचारी गृहस्थ के लिए ग्राह्य हैं। अपनी संरचना में मनुस्मृति प्रगाढ़ आदर्शो और दैनंदिन जीवन की सामान्यताओं का अनूठा संगम है। सृष्टि के विराट सत्यों को उच्चतम स्थान देते हुए मनु का यह वैचारिक आग्रह है कि उनके प्रकट रूप–विधान आदि को ग्रहण करते हुए और उनसें अभिप्रेरित होते हुए चेतनाशील और सदाचारी व्यक्ति विराट सत्य के साक्षात्कार की क्षमता रखता है। समन्वित तर्क शक्ति और उससे उत्पन्न विवेक केवल व्यक्ति को ही इस योग्य बनाता है। इस योग्यता को पाने की बुनियादी शर्त यह है कि व्यक्ति मनुस्मृति में वर्णित विधान के "करने योग्य" तथा "न करने योग्य" प्रावधानों का ईमानदारी से पूर्ण पालन करे।

सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक संदर्भों को संकलित करते हुए मनु राज्य को सामाजिक व्यवस्था (विशेषत: तत्कालीन वर्ण–व्यवस्था) के परिपालन एवं अनुरक्षण का दायित्त्व सौंपते हैं। साथ ही, उनका यह दृढ़ मत है कि राज्य को प्रत्येक सामाजिक स्तर पर स्वधर्म पालन की मूल सुविधा प्रदान करनी चाहिए और तत्सम्बन्धी अनुकूल वातावरण का निर्माण करना चाहिए। राज्य को अपने कार्य–संचालन में बुद्धिमान व कार्यक्षम सभासदों का सहयोग लेना चाहिए और ब्राह्मणों की राजकाज में पर्याप्त प्रधानता होनी चाहिए। राज्य–संगठन' बहुस्तरीय होना चाहिए और उसमें ग्राम, नगर एवं प्रांतों के परस्पर व्यापी वृहत्तर चक्र होने चाहिए। समस्याओं का निराकरण सम्बन्धित स्तर पर ही किया जाना चाहिए। मनुस्मृति इस प्रकार तत्कालीन परिवेश में विकेन्द्रीकरण पर पर्याप्त बल देती है। मनु ने कर–व्यवस्था के न्यायोचित आधार पर बल दिया और राज्य के सम्भरण हेतु निश्चित भाग का स्पष्ट प्रावधान भी प्रस्तुत किया। मनु मजदूरी को कार्यकर्त्ताओं की विशिष्ट योग्यताओं से जोड़ते है। उनका मत है कि पद एवं सम्मान केवल वंशानुगत नहीं होने चाहिए यद्यपि स्वधा व वैयक्तिक क्षमता के संदर्भ में वंशानुगत्ता के प्राधान्य को नकारा भी नहीं जा सकता। इस प्रकार, अपने विचारों में मनु आदर्श एवं व्यवहार का न्यायसंगत सम्मिश्रण प्रकट करते है। उनके विचार वास्तविकता की भावभूमि से जुड़े हैं यद्यपि उनकी उड़ान काफी ऊंची होती हुई सृष्टि की वास्तविकताओं तथा संकल्पनाओं का एक साथ संस्पर्श करती है।

भारतीय चिंतन सम्बन्धी इन धाराओं का उत्क्रष्ट काव्यात्मक प्रतिनिधित्व महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण तथा महर्षि व्यास कृत महाभारत द्वारा होता है। ये दोनों महाकाव्य भारतीय जनमानस को पारम्परिक रूप से अत्यधिक प्रभावित करते आए हैं। राम और कृष्ण भारतीय भाव जगत में इतने गहरे पैठे हुए हैं कि उनकी भावात्मकता स्वयं एक सजीव तथ्य बन जाती है। उसें इतिहास से किसी साक्ष्य की कही कोई आवश्यकता ही नहीं है। ये दोनों महाकाव्य जीवन की विविधताओं को सरल मानवीय संवेग प्रदान करतें है और अपने–अपने क्रम में धर्म की सम्प्रभुता स्थापित करतें हैं। इस समय तक धर्म ने ऋत का स्थान ले लिया था।

रामायण राम के जीवन–चरित्र को आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित करती है। 'मर्यादा पुरूषोत्तम' के रूप में रामायण में राम निरन्तर लोक–कल्याण और लोक सत्ता को समर्पित दिखाए गए हैं। सार यही है कि एक आदर्श राज्य स्वधर्म और राजधर्म दोनों का निर्वाह करते हुए सदैव मर्यादित रहे और सबके हित को अपने हित से ऊँचा माने। रामायण में धर्म के औचित्य, स्थान और प्रतिष्ठा पर पर्याप्त चर्चा की गई है। धर्म के प्राधान्य पर विशेषत: लक्ष्मण और जाबालि द्वारा प्रश्नचिन्ह भी लगाए गए हैं। जीवन की बुनियादी विसंगतियों के बीच धर्म स्थापना की प्रक्रिया पर ज्ञानशास्त्रीय और नैतिक बहस भी की गई है लेकिन अंतत: धर्म की सत्ता को निर्णायक रूप से प्रतिष्ठित किया गया है। राजनीतिक संदर्भ में रामायण राज्य की उत्पत्ति को मानवीय आवश्यकताओं का प्रतिफल मानती है। लौकिक संदर्भ में राज्य का औचित्य इस आधार पर टिका हुआ माना गया कि राज्य के अभाव में अराजकता होगी और जीवन–निर्वाह दूभर हो जाएगा। राज्य–संचालन में राज्य की भूमिका के प्रति रामायण आदर्श–प्रधान दृष्टि अपनाती है। राज्य को विष्णु का अवतार मानते हुए उससे यह अपेक्षा की गई कि वह धर्म, वर्ण–व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं तथा लोकमत को प्रतिष्ठित करे।

रामायण अपनी संरचना व अभिव्यक्ति में जहां सरल, सौम्य व संगीतमय काव्यात्मकता संजोए है, वही महाभारत नागर सभ्यता की समस्त जटिलताओं को अभिव्यक्ति देते हुए अपनी संगीतमय काव्यात्मकता के बावजूद कहीं–कहीं कर्ण कटु प्रतीत होती है। रामायण शांत स्थिर जलाशय है तो महाभारत उद्वेलित महासागर।[6]

महाभारत का राजनीतिक दर्शन मुख्यत: शान्तिपर्व में निहित है। पितामह भीष्म द्वारा युद्ध के उपरान्त धर्मराज युधिष्ठिर को दिया गया उपदेश राज्यशिल्प के आख्यान का एक बेजोड़ उदाहरण है। राजधर्म की व्यापक अवधारणा राजनीतिक प्रशासनिक मामलों में प्रासंगिक कर्तव्यों एवं दायित्वों का सम्बोधन करती है। दण्डनीति राजधर्म से व्युत्पन्न है और उस क्रम में वह राज्य–सम्प्रभुता का एक व्यवहार्य पश्चिमेतर वैचारिक परिप्रेक्ष्य निर्मित करती है।[7] भगवद् गीता में चरितार्थ सर्वभूतहित दण्डनीति का भी स्वीकृत मानक है। महाभारत में दण्डनीति को 'शुभम् शास्त्रं' की संज्ञा दी गई है। निर्धारित मान्यता यह है कि यदि दण्डनीति का समुचित प्रचलन हो तो उसके फलस्वरूप राजनीतिक सत्ता का मानकीय संस्थीकरण होता है और जनता को उससे पैतृक परितोष प्राप्त होता है।[8] ऐसी दण्डनीति चारों पुरुषार्थो के अनुरक्षण में समर्थ होती है। महाभारत में दण्डनीति और राजधर्म का विनिमेय (inter – changeable) प्रयोग हुआ है और दोनों को अनूठा लौकिक संदर्भ प्रदान किया गया है।

महाभारत में राज्य के रूप–विधान के साथ–साथ व्यवहारशील राज्य–गतिविधियों की भी स्पष्ट चर्चा हुई है। सरकार के कार्य परिवेश का निर्धारण करते हुए शांतिपर्व पांच कार्य क्षेत्रों की विवेचना प्रस्तुत करता है : (1) दक्षाधिकरण (2) युद्ध प्रबन्ध; (3) धर्मानुशासन; (4) मंत्रचिन्ता तथा (5) सर्वहित अथवा सर्व कल्याण का संसाधन। इन समस्त कार्य–कलापों को संसाधित करने के बावजूद राज्य स्वयं में साध्य बल्कि साधन माना गया है। राज्य 'दण्डविद् के रूप में दण्ड–विधान की कला व शास्त्र में निपुण चरितार्थ किया गया। उसे दण्ड प्रकरणों में सर्वाधिक सचेत और निष्पक्ष रहने की सलाह दी गई थी। राजशक्ति का प्रयोग राज्य को ऐसे

'अमात्य वर्ग' के सहयोग से करने की मंत्रणा दी गई जो बौद्धिक और नैतिक सद्‌गुणों से सम्पन्न हों। अमात्य–वर्ग समाज की प्रतिनिधि वर्ण–व्यवस्था का समुचित प्रतिनिधित्व करने वाला होना चाहिए, महाभारत ऐसा स्पष्ट प्रावधान करती है। उसमें राज्य–कोष की व्यावहारिक महत्ता का भी सुसंगत समावेश है। राज्य से यह अपेक्षा की गई कि वह कर–प्रणाली का ऐसा प्रचलन करे जो राहतकारी हो तथा न्यायसंगत भी। प्राकृतिक विपदाओं की स्थितियों में राज्य को प्रजा से कर न लेने की भी सलाह दी गई। रक्षा–व्यवस्था के लिए व्यापक सेना और सैनिक विभागों का प्रावधान था। इन व्यावहारिक नीतिसूत्रों के व्यापक परिवेश के बावजूद महाभारत द्‌वारा मूलत: जीवन में आदर्शों के द्‌वन्द्‌व और उनकी जटिलताओं का सटीक संयोजन हुआ है और सर्वत्र धर्म के प्राधान्य को महिमामण्डित किया गया है। यतो धर्मस्ततो जय:' (जहां धर्म है वही विजय है) महाभारत का सार है।

राजनीतिक जीवन के लौकिकीकरण (Secularisation) का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र से उपलब्ध होता है।' कौटिल्य अपनी कृति में यह मत प्रतिपादित करते हैं कि राज्य का दायित्व है कि वह स्वयं स्वधर्म का पालन करे और समाज में सभी को स्वधर्म पालन की प्रेरणा दे। साथ ही, उसे स्वधर्म की उल्लंघक स्थितियों से समाज को बचाना भी चाहिए। इसी आधार पर वह समाज में व्यवस्था लागू कर सकता है और योगक्षेम का प्रवर्तन भी। प्रो. वी पी. वर्मा योगक्षेम के प्रवर्तन की दृष्टि से राज्य के कार्य–कलापों को हॉब्स के शासक (लेवायथन) की अपेक्षा अधिक सारगर्भित और व्यापक मानते हैं। उनकी दृष्टि में योगक्षेम अरस्तु के इस भाव से तुलनीय है कि पोलिस (राजव्यवस्था) बनी तो है जीवन सम्भव बनाने के लिए लेकिन उसका सतत प्रयास यह होता है कि जीवन अधिकाधिक बेहतर और सद्‌गुणसम्पन्न हो।[10]

कौटिल्य राज्य की तर्क–संगति के रूप में मत्स्य–न्याय की प्रचलित मान्यता का उल्लेख करते हैं। राज्य का तर्क–सार है अराजकता से व्यवस्था–निर्माण का उपक्रम। अतएव, राज्य और राज्य सामाजिक अनुबन्ध का प्रतिफल होते हुए भी अपनी–अपनी सत्ता का सुदृढीकृत रूप प्रस्तुत करते हैं। व्यवहार्यता की दृष्टि से लोकप्रिय सभा–परिषदों की अपेक्षा राज्य की मंत्रि–परिषद् पर अधिक बल दिया गया है।

राजनीतिक व्यवस्था के सप्ताड़ सिद्धान्त के अन्तर्गत सात राज्य–तत्वों का समावेश किया गया है–स्वामी, अमात्य, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र तथा प्रकृतिसम्पदा। ये सप्ताड़ सम्प्रभुता की अमूर्त अवधारणा का उल्लेख नहीं करते यद्‌यपि उनमें सरकारी प्रक्रियाओं के कुछ प्रभुताशाली संवाहक अवश्य निहित हैं, जैसे राज्य तथा मंत्री। प्रो. वी पी. वर्मा का यह मत उल्लेखनीय है कि कौटिल्य का सप्ताड सिद्धान्त बोदां, हॉब्स तथा ऑस्टिन सरीखी सम्प्रभुता की न्यायिक अवधारणा पर बल नहीं देता। साथ ही, इससे हेगेल व बोसांके विषयक आधुनिक राष्ट्र–राज्य की अमूर्त संकल्पना का भी बोध नहीं होता।[11]

"वस्तुत: अर्थशास्त्र राजनीति' और राज्यशिल्प की अपेक्षा प्रशासन विषयक ग्रंथ अधिक है। प्रशासनिक सिद्धान्तों की (इसमें) इतनी सारगर्भित और सूक्ष्म विवेचना हुई है कि हमें यह

आश्चर्य सा होता है कि क्या उसके बाद से प्रशासनिक विज्ञान में कोई और प्रगति हुई भी है। (अर्थशास्त्र में) सकारात्मक राज्य का विचार अपनाया गया है और राज्य को अधिकृत किया गया है कि वह सद्जीवन की स्थितियां निर्मित करे–न केवल कुंए और नहरें खोद कर, बांध बना कर, पेड़– लगा कर या जंगल बचा कर बल्कि सड़क बना कर और जलमार्ग को प्रोत्साहन देकर भी ताकि व्यापार, वाणिज्य और उद्योग सम्बन्धी अभिसंरचना उपलब्ध हो सके। (इस ग्रंथ में) उन पद्धतियों की विशद विवेचना हुई है जो इन क्रियाकलापों के लिए घातक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने में समर्थ हैं और साथ ही जिनसे उक्त क्रियाकलापों का अनुकूलतम संसाधन हो सकता है" (स्वतंत्र अनुवाद)।[12]

राजनीतिक विचारों से सम्बन्धित कोई भी चर्चा जैन और बौद्ध राजनीतिक मन्तव्यों और धारणाओं के अभाव में अधूरी है। जैन राजनीतिक चिंतन को मुख्यत: दो धाराओं के संदर्भ में देखा जा सकता है–धर्मविधिक (Canonical) तथा उत्तर–धर्म विधिक।[13] पहली धारा के अन्तर्गत पारम्परिक वैदिक दृष्टिकोण का विकल्प प्रतिपादित किया गया जबकि दूसरी धारा के अन्तर्गत नीति विषयक ब्राह्मणवादी ग्रन्थों का प्रणयन किया गया।[14] जैन धर्म वेद और अर्थशास्त्र दोनों को सही निर्देशन के स्रोतों के रूप में अस्वीकार करता है। नन्दीसूत्र में इन्हें 'मिथ्याऋृत' की संज्ञा दी गई है और उन्हें मिथ्या ज्ञान के रूप में संहित किया गया है। जैन दृष्टि तीन स्तम्भों पर केन्द्रित है–आत्मावाद, लोकावाद तथा क्रियावाद।[15] जैन आचार्यों और मुनियों की यह मान्यता थी कि व्यक्ति एक आध्यात्मिक प्राणी है यद्यपि वह पदार्थ और भौतिकताओं में लिप्त है और ऐसे भौतिक जगत से घिरा हुआ भी जहां पूर्णता और अपूर्णता के विभिन्न स्तरों की आत्माएं सतत क्रियाशील हैं। व्यक्ति का यह अभीष्ट नहीं है कि वह भौतिक जगत् का स्वामी हो और कि वह उसका अपने आनन्द और सुख के लिए उपयोग करे क्योंकि ऐसी समस्त क्रियाएं आत्म को घटाती हैं। उनसे पदार्थ के जैविक अजैविक रूपों से युक्त आत्माओं को क्षति पहुंचती है। विकल्पत: व्यक्ति को कार्य की स्वतंत्रता प्राप्त है और उसके ये कार्य नीति–व्यवस्थित विश्व में चरितार्थ होते हैं। अत: जैन मान्यता व्यक्ति के विकास के लिए कर्म के आत्म–उल्लंघक उत्कर्ष की अनुशंसा करती है यानि व्यक्ति अपनी चेतना के धरातल पर नित ऐसे कार्य करे जो चेतना के विकास के साथ उसे उसकी पूर्ववर्ती स्थिति से सतत आगे बढ़ाते जाएं। इसके लिए व्यक्ति की आध्यात्मिक स्वायत्तता अपरिहार्य है। इस संदर्भ में राजनीतिक शक्ति और सामर्थ्य नैतिक और धार्मिक जीवन की अनेक शर्तों में से केवल एक शर्त ही है। अत: जैन चिंतन परम्परा में यह स्पष्ट प्रतिपादन है कि "राज्य को सद् विश्वास का अनुसरण करना चाहिए बिना अपने आप को नैतिक द्रष्टि से विशेषाधिकारी मानते हुए। जनता को राज्य के (ऐसे) उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए। समाज और राज्य के नियम आध्यात्मिक विवेक के सिद्धान्तों के विपरीत नहीं होने चाहिए जोकि अहिंसा, समानता तथा अनाकांक्षा (इच्छाओं के अभाव की स्थिति) का आदेश करते हैं। व्यक्तियों को सांसारिक आसक्तियों में अपने आप को नहीं गंवा देना चाहिए जिसका निहितार्थ है कि सामाजिक नीति अधिकतम संवर्द्धनकारी (maximist) नहीं होनी चाहिए। व्यापार ईमानदारी से संचालित होना चाहिए और राजनीति सत्यनिष्ठ रूप से। युद्ध उपेक्षणीय होने चाहिए। संक्षेप में, यदि कोई

सज्जन होने का उपक्रम करे तो उस स्थिति में, समस्त गतिविधियां अच्छाई को प्रवृत्त होंगी। यदि कोई अच्छाई के उपक्रम का अनादर करे और केवल आत्म–कल्याण और सफलता की ही इच्छा करे तो समस्त गतिविधियां बुराई की ओर ही उन्मुख होंगी। यदि राजनीतिक जीवन व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन के सहायक रूप में कार्य –करना बन्द कर दे तो उससे केवल बुराई को ही प्रोत्साहन मिलेगा।"[16]

परवर्ती काल में सोमदेव ने नीतिवाक्यामृतम् में स्मृति और अर्थशास्त्र परम्पराओं के समावेश का योगदान दिया। कौटिल्य की भांति सोमदेव भी. राजनीति के स्वायत्तशासी चरित्र की पर्याप्त चर्चा करते हैं। प्रो. मेहता इन दोनों के राजनीति विषयक चित्रण को इतना समान पाते हैं कि वे उन्हें लगभग अविभेद्य मानते हैं।[17] जैन तत्वमीमांसक होते हुए भी सोमदेव ने नीतिवाक्यमृतम में राजनीतिक यथार्थवाद की नीति का प्रतिपादन किया। यह ग्रंथ सविस्तार राजनीति को अनिवार्यत: समाज में संघर्ष–प्रबन्ध का कौशल मानता है। अत: इसमें सोमदेव ने राजाओं विशेषत: अरिकेसरी को ऐसे नुस्खे दिए हैं जो उन्हें व्यावहारिकता तथा बुद्धिमत्ता में दीक्षित करते हैं। इसीलिए, सोमदेव की विचार योजना में शिक्षा व प्रशिक्षण को पर्याप्त महत्व दिया गया है। सोमदेव का आकलन करते हुए प्रो.वी.पी. वर्मा का यह मत है कि"....... प्रज्ञा, यथार्थवाद तथा मिताचार (Moderation) सोमदेव की (इस) क्रति के निर्देशक उपदेश हैं........ (यद्यपि) सोमदेव की (यह) कृति अपने चरित्र में सूत्ररूपी है और इसका यथार्थवाद सामाजिक तात्कालिता पर आधारित है।[18]

बौद्ध धर्म (विशेषत: प्रारम्भिक बौद्ध धर्म) ने राजनीति को एक आवश्यक बुराई के रूप में चरितार्थ किया। दिघ निकाय तथा जातक कथाओं को छोड़ कर तत्कालीन बौद्ध धर्म सुस्पष्ट राजनीतिक मत प्रतिपादन नहीं करता। अश्वघोष की कृतियां सौन्दरनन्द तथा बुद्धचरितम, ललित विस्तर, महावस्तु अवदान मूलसर्वस्तिवाद–विनयवस्तु, महायानसूत्रसंग्रह, दिव्यदान, जातकमाला लङ् कावरणसूत्रम् अष्टसहस्त्रिक प्रज्ञापर्मिता, गण्डव्यूह सूत्राम्, सद्धर्मपुण्डरीक सूत्रम्, सुवर्णप्रभाष सूत्रम्, अवदान शतकम्, अवदान कल्पलता शिक्षा समुच्चय, बोधिचर्यावतार, अभिधर्मदीप तथा नागार्जुन की कृतियों में यंत्र–तंत्र राजनीतिक चिंतन के स्फुट तत्व उपलब्ध होते हैं। बौद्ध राजनीतिक मंतव्य तत्सम्बन्धी विश्व–दृष्टि में केवल माध्यमिक वैधता का ही संकेत देते हैं यद्यपि बौद्ध आदर्शवाद सर्वव्यापी नैतिक संवेगों से अभिप्रेरित प्रकट होता है और अपने इस रूप में वह ब्राहमण और शूद्र दोनों के लिए सामाजिक समानता का प्रावधान करता है। उस समय के हिसाब सें सामाजिक समानता का यह आग्रह क्रांतिकारी नहीं तो उदार अवश्य है।[19]

4. राजनीतिक विचार तथा तत्कालीन भारतीय समाज

राजनीतिक विचारों में निहित धर्म के विविध प्रसंग, सामाजिक दृष्टिकोण तथा राज्य और प्रशासन सम्बन्धी धारणाओं का मूर्त लेकिन विविध रूपी प्रतिमान भारतीय समाज से प्राप्त होता है।

भारतीय जीवन समग्रता को समर्पित था। यथार्थ की धारणा में विषय और वस्तु दोनों एक साथ समाहित थे। मान्यता यह थी कि 'यथार्थ एक है लेकिन फिर भी वह अनेक रूपों में

प्राकट्य की क्षमता रखता है, वह निराकार है परन्तु फिर भी अनन्त रूपों में विद्यमान है; वह वैयक्तिक है लेकिन साथ ही अवैयक्तिक भी है।[20] इसीलिए, सत्य भी एक है लेकिन उसके अनन्त रूप एक साथ सम्बोधित होते हैं ('एको सद् विप्रा: बहुधा वदन्ति')। जैन धर्म में व्याप्त अनेकान्तवाद भी प्रकारान्तर सें इस वृत्ति को पुष्ट करता है। परम्परा को नित नई माना गया और इसलिए 'पुराना 'हमेशा 'नए' से जुड़ता रहा है और जीवन तथा जीवन–दर्शन सदैव सनातनता की ओर बढ़ने को उद्यत रहे। इसीलिए धर्म कभी 'पुरावशेष ' नहीं बना, वह सनातनता से पुष्ट होकर स्थितिजन्य प्रासंगिकता पाता रहा। प्राचीन भारतीय समाज में निरन्तरता के ये तत्व समाज को सदैव उसकी वैशेषिक स्थिरता प्रदान करते रहे।

वैदिक राज–व्यवस्था मे प्रचलित जन राज्य द्वारा समिति और सभा की सहायता से प्रशासित थे। के.पी. जायसवाल समेत अनेक विद्वान राजपद को निर्वाचित पद मानते थे यद्यपि यह निर्वाचन सभा अथवा समिति के तत्वावधान में चयन अथवा स्वीकृति के रूप में ही विद्यमान था। चाहे कुछ भी क्यों न हो, वैदिक राज्य एक मर्यादित शासक था। वह निरंकुश या तानाशाह नहीं था। कानून परम्परा द्वारा अभिज्ञात था और अपने इस रूप में राज्य की व्यक्तिगत इच्छा व अभिरूचि से ऊपर भी। बल और क्षत्र मिल कर कार्य करते थे। पुरोहित वर्ग धर्म व कानून की व्याख्या करता था जबकि राज्य उसके आधार पर वास्तविक शासन–संचालन करते थे। उनके बीच एक अनूठी पदसोपानिक व्यवस्था कार्यशील थी।[21]

उत्तर–वैदिक काल में यह सामाजिक संसक्ति कुछ फीकी पड़ी और सामाजिक संघर्षो का सूत्रपात हुआ। राज्य का पद निर्णायक रूप से वंशानुगत हो चला और साथ ही ब्रह्म–क्षत्र संतुलन भी डगमगाया। राज्य के इर्दगिर्द एक कुलीनतंत्र बना और उसमें पारस्परिक संघर्ष पनपने लगे जिनका वैशेषिक उल्लेख महाभारत से मिलता है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस काल में संघर्षो में लीन होते हुए भी विविध राजाओं ने दर्शन मे पर्याप्त रूचि प्रदर्शित की और दार्शनिकों को अपना संरक्षण प्रदान किया।[22]

मौर्य साम्राज्य ने अपने वैभवशाली विस्तार से राज्य–सत्ता को अपूर्व महिमा मण्डित किया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने राज्य को एक व्यवहार्य संस्था का रूप दिया और प्रशासन की सूक्ष्मताओं का प्रासंगिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। यूनानी मौर्य साम्राज्य के वैभव तथा सामाजिक स्थितियों से अत्यन्त प्रभावित थे। इसकी पुष्टि मेगस्थनीज के यात्रा–वृत्तान्त से होती है। उसने तत्कालीन भारत में गुलामी प्रथा को अनुपस्थित पाया। सम्पत्ति विषयक असमानता के बावजूद तत्कालीन समाज में कानून के सम्मुख प्राय: समानता का भाव मेगस्थनीज ने अनुभव किया। कानून आम जनता के जीवन में विशेष भूमिका नहीं रखता था और कानूनी विवाद प्राय: अनुपस्थित थे। तत्कालीन राज्य विविध कार्य–सम्पादित करता था। उसका ध्यान केवल कानून–व्यवस्था तक ही सीमित नहीं था बल्कि वह व्यापार, उद्योग, श्रम–व्यवस्थाओं, नाप–तौल, बाजार नियमन आदि क्षेत्रों तक व्याप्त था। मेगस्थनीज भारतीय जीवन–दर्शन की समग्रता से भी प्रभावित था यद्यपि दर्शन व जीवन के बीच पड़ती खाई ने उसकी संवेदनशीलता को पर्याप्त प्रभावित किया। मेगस्थनीज वर्णित सामाजिक स्थितियों के मध्य मौर्यकालीन राज–व्यवस्था एक ऐसे राज्य से सम्पन्न थी जो ' 'आध्यात्मिक जीवन के संसाधन की दृष्टि से व्यापक संस्थात्मक

उपकरणों को समन्वित करता था।"[23] डॉ. बेनी प्रसाद के शब्दों में, " (मौर्यकालीन) राज्य सामाजिक शक्तियों, बौद्धिक प्रभावों, आर्थिक उद्यमों तथा, इन सबसे ऊपर, आध्यात्मिक परम्पराओं की (पारस्परिक) अन्त: क्रियाओं का नियामक था.. संक्षेप में, राज्य सरंक्षण सद्जीवन की बाधाओं को बाधित करने तक ही सीमित नहीं था जैसा कि जर्मन व ब्रिटिश आदर्शवादियों ने राज्य का उचित क्षेत्र माना बल्कि वह आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कल्याण के सर्वांगीण कार्यक्रम के लिए व्यवहार्यत: सरंचित था। "(स्वतंत्र अनुवाद)।"[24]

कालान्तर में गुप्तकाल और तत्कालीन राज–व्यवस्था ने प्राचीन भारतीय विचारों एवं व्यवस्थाओं को चरितार्थ किया। समुद्रगुप्त प्रतापी राज्य होने के साथ–साथ कला एवं संस्कृति के भी संरक्षक थे। चंद्रगुप्त द्वितीय तो 'विक्रमादित्य' कहलाते थे। तत्कालीन शासन में धर्म एवं संस्कृति की नियामक भूमिका थी। गुप्तकाल में शासन का मानवीय सम्भावनाओं, आत्मसंयम एवं आत्मानुशासन पर अटूट विश्वास था। ग्रंथों के शब्दों की अपेक्षा वैयक्तिक अनुभवों और अस्तित्व पर अधिक बल दिया जाता था। जीवन का कर्मक्षेत्र धर्मक्षेत्र बनने को तत्पर था।

गुप्तकाल में कालिदास के कृत्तितत्व (विशेषत: रघुवंशम्) में पारम्परिक राज्य मान्यताओं का उत्क्रष्ट सम्मिश्रण हुआ। कालिदास को राजनीतिक विचारक तो नहीं माना जा सकता लेकिन उनका यहां उल्लेख इसलिए प्रासंगिक है कि उन्होंने भारतीय मेधा को अपनी काव्यात्मक शैली से इतना अभिप्रेरित किया और भारतीय वैभव का ऐसा वृत्तान्त प्रस्तुत किया जैसा उस समय किसी अन्य ने नहीं किया। साथ ही, उन्होंने सद्राज्य विषयक ऐसी आदर्श स्थिति को सारमूलक अभिव्यक्ति दी जो अपनी गहनता व सूक्ष्मता में अनन्य है।'

5. सारांश

प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार जीवन प्रसंगों से उत्पन्न हुए है। ऋतु, स्वधा, व्रत आदि वैचारिक श्रेणियों ने परस्पर मिलकर राजनीतिक विचारों का ताना–बाना बुना। ऋत–सम्प्रभुतावाद एक विशिष्ट भारतीय विचार श्रैणी है जो पश्चिमेतर सम्प्रभुता का संदर्भ निर्मित करते हुए जनसम्प्रभूता तथा संवैधानिक सम्प्रभुता को चरितार्थ करती है। कालांतर में धर्म ने ऋत का स्थान ग्रहण कर लिया महाभारत, अर्थशास्त्र आदि ग्रंथ इसका साक्ष्य है।

मनु, कौटिल्य, वाल्मीकि, व्यास तथा बौद्ध एवं जैन मीमांसाकार एवं विचारकों राजा ने राज्य और को धर्म से अनुप्राणित और निर्देशित माना। राज्य राजधर्म और दण्डनीति से संचालित होता था और ये दोनों विनिमेय रूप से राज्य की साधनात्मक सत्ता को संयोजित करते हुए उसे धर्म–प्रवर्तक राज्य बनाने का योगदान देते थे। राज्य स्वयं धर्म से मयादित था और सर्वत्र स्वधर्म पालन का सामाजिक आचार प्रवर्तन उसका नैतिक दायित्व था अपने इसी कार्य–प्रसंगवश राज्य व्यवस्था का सूत्रपात कर सकता था। प्रत्येक विचारक राज्य को इसलिए अपरिहार्य और राज्य–सत्ता के अभाव को अराजकता का पर्याय मानता था। राज्य का राजकार्य मूलत: कल्याणकारी और: न्यायसंगत था। इसलिए राज्य अपने क्रियाकलापों में सामाजिक जीवन की विविध प्रक्रियाओं को समाहित करतें हुए नैतिक आधार पर जीवन के वैविध्य को संसाधित करता था। जीवन के अन्तनिर्हित सौन्दर्य का बोध और उसका सम्बोधन उसके शासन को तर्कसार प्रदान करते थे।

सामाजिक व्यवस्था वर्ण–आधारित थी और उनका संगठन तर्क व्यक्ति की नैसर्गिक प्रतिभा और उसके स्वधर्म पालन पर केन्द्रित था। वैदिक काल मे वर्ण मानवीय आधार प्राप्त थे। परवर्ती काल में वर्ण अनुदार और कट्टर हो गए, उनमें पारस्परिक विद्वेष और संघर्ष पनपने लगे और इस क्रम में ब्रह्म–क्षत्र संतुलन अस्त–व्यस्त प्राय हो गया। बौद्ध और जैन धर्मावलम्बी इसी संदर्भ में वैदों की सत्ता और ब्राह्मणों की महत्ता को अस्वीकार करने को बाध्य हुए यद्यपि तत्वमीमांसा के संदर्भ में जीवन का अर्थसार और व्यक्ति की चेतना और कर्म यथावत अक्षुण्ण रहे।

भारतीय वैचारिक परिप्रेक्ष्य का स्पष्ट सामाजिक 'रूपांतरण एक ऐतिहासिक सत्य रहा है। प्रत्येक प्रसिद्ध राज्य ने धर्म की सत्ता मानी, नैतिकता का राजकाज में पर्याप्त समावेश किया और आत्मसंयम का परिचय देते हुए जीवन की विविधताओं को परिमार्जित किया। फलत: प्राचीन भारतीय समाज स्थिरता से विविध परिवेशों में राज्यशिल्प के साथ–साथ कला, संस्कृति व साहित्य का संतुलित विकास कर सका। मौर्य एवं गुप्त कालीन शासन प्रंसग विशेष रूप से इन वृत्तियों एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के परिचायक है।

6. उद्धरण एवं टिप्पणी

1. जी सी. पांडे, फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर – डाइमेन्शन्स आफ एंशिएन्ट इंडियन सोशल हिस्टरी (खण्ड-II), नई दिल्ली, बुक्स एण्ड बुक्स, 1984 पृ. 263.
2. के. सच्चिदानन्द मूर्ति, “एथिक्स एण्ड पॉलिटिक्स इन हिद्धू कल्चर", कृष्णा रॉय तथा छंदा गुप्ता (सं) एसेज़ इन सोशल एण्ड पोलिटिकल फिलॉसफ़ी, नई दिल्ली, आई.सी.पी. आर तथा एलाइड पब्लिशर्स द्वारा सह–प्रकाशित, 1989, पृ. 561–62
3. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, 'ऋत–सम्प्रभुतावाद : वेद का विराट राजनीतिक दर्शन,” वैदिक राजनीतिशास्त्र
4. अनाम जैतली तथा ब्रज मोहन शर्मा, राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त, राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, 1982, पृ. 119
5. मनु के राज्य–संगठन की विस्तृत रूपरेखा एवं विवेचना के लिए देखें वी.आर मेहता, फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन पोलिटिकल थाट नई दिल्ली, मनोहर, 1992, पृ सं. 26–28.
6. वही, पृ. 41.
7. 'अनाम जैतली तथा ब्रज मोहन शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 115
8. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, एंशिएन्ट एंड मिडीएवल इंडियन पॉलिटिकल थॉट, आगरा लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, 1986, पृ. 40
9. लौकिकीकरण के स्पष्ट आभासों की चर्चा के लिए दृष्टव्य वी.आर मेहता, पूर्वोक्त पृ. 91। प्रो. मेहता इस प्रक्रिया के साक्ष्य के रूप में संन्यासियों के पंजीयन का उल्लेख करते है।
10. वी पी, वर्मा, एन : 8, पृ. सं. 62 - 63

11. वही, पृ. 62
12. वी. आर. मेहता, पूर्वोक्त, पृ. 87
13. जी.सी. पांडे, जैन पॉलिटिकल थॉट, जयपुर, प्राकृत भारत संस्थान तथा जैन अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, 1984, पृ. 12
14. वही
15. वही, पृ. 28
16. वही, पृ. 48
17. वी आर. मेहता, पूर्वोक्त, पृ. 111
18. वी पी वर्मा, एन. 8, पृ. 177
19. वही, पृ. 177
20. जी सी. पांडे, एन. 1, पृ. 26
21. वही, पृ. 250
22. वही, पृ. 250
23. बेनी प्रसाद, "पोलिटिकल थ्योरी एण्ड एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम ", आर.सी. मजूमदार (सं), दि एज ऑफ़ इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, भारतीय विद्या भवन, 1953, पृ 308.
24. वही, पृ. 308 – 309
25. वी. आर. मेहता. पूर्वोक्त, पृ. 95

7. अभ्यास–प्रश्न

1. 'प्राचीन भारत में धर्म एवं राज्यशिल्प' की विवेचना कीजिए। (500 शब्द)
2. महाभारत अथवा अर्थशास्त्र का राजनीतिक महत्व प्रतिपादित कीजिए।
3. मनु के राजनीतिक विचार स्पष्ट कीजिए। (200 शब्द)
4. जैन व बौद्ध धर्म में राजनीतिक विचारों–का क्या महत्व व स्थान है? स्पष्ट कीजिए। (200 शब्द)
5. ऋत क्या है? व्रत व स्वधा उससे कैसे संयोजित है? स्पष्ट कीजिए (50 शब्द)
6. सप्तांङग सिद्धान्त क्या है? बताइए (50 शब्द)

इकाई–5
व्यास के राजनीतिक विचार

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार
   - 3.1 दण्डनीति
   - 3.2 राज्यसंस्था को उत्पत्ति
   - 3.3 राजा
   - 3.4 राजा के कर्तव्य
   - 3.5 दण्ड व न्याय व्यवस्था
   - 3.6 अन्तर्राज्य सम्बन्ध
   - 3.7 आपद्धर्म
   - 3.8 युद्ध सम्बन्धी नियम
   - 3.9 कराधान
   - 3.10 गणराज्य सम्बन्धी विचार
4. इकाई सारांश
5. अभ्यास प्रश्न
6. संदर्भ ग्रंथ

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य यह जानना है कि महर्षि व्यास रचित महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचारों का क्या स्वरूप था?

2. प्रस्तावना

भारतीय साहित्यिक विरासत की निधि का महाभारत एक अमूल्य रत्न है। इसे प्रथम ऐतिहासिक ग्रंथ माना गया है। विषयवस्तु की व्यापकता तथा स्वरूप की विशालता में महाभारत संसार का एक अद्वितीय ग्रंथ है। प्राचीन भारतीय सभ्यता व संस्कृति की यह कुंजी है। इसकी समग्रता के संदर्भ में कहा भी गया कि इस ग्रंथ में जो कुछ है वह अन्यत्र है परन्तु जो कुछ इसमें नही है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। इसे पंचम वेद की संज्ञा भी दी गई है। आदिपर्व में महाभारत को केवल इतिहास ही नहीं, वरन् धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र भी कहा गया है। इसमें मानव जीवन के विविध पक्षों की विवेचना की गई है। नीति, धर्म, राजनीति, काम, अर्थ, मोक्ष, दर्शन सभी का इसमें समन्वय किया गया है। कृष्ण द्वैपायन व्यास को महाभारत का रचयिता माना गया है। महाभारत इतना विशाल ग्रंथ है. कि इसके एक

ही समय में, एक ही व्यक्ति द्वारा निर्मित होने पर शंका उत्पन्न होती है। इसका स्वरूप कई शताब्दियों में निर्मित हुआ लगता है। इसमें एक लाख श्लोकों का अठारह पर्वो में संकलन किया गया है। सर्वप्रथम व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को महाभारत सुनाया। वैशम्पायन ने जनमेजय के यज्ञ के अवसर पर महाभारत सुनाया। वैशम्पायन के बाद उग्रश्रवा सौति ने उसे नैमिषारण्य में शौनक ऋषि के द्वादश–वर्षीय सूत्र में सुनाया। विभिन्न इतिहासकारों ने इसकी तिथि निर्धारण का प्रयास किया है। वेबर, मैक्डोनल, सी. बी. वैद्य, प्रो. विंटरनिट्ज आदि ने इस पर काम किया है। प्रो. विंटरनिटज के अनुसार महाभारत का वर्तमान रूप में परिवर्तन चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व से पहले का नहीं है और चौथी शताब्दी ईस्वी के बाद का नहीं है। इसका पहला उल्लेख चौथी–पांचवी शताब्दी ईसवी (गुप्त काल के एक शिलालेख) में मिलता है। इसका मूल अंश प्राचीन रहा होगा क्योंकि पाणिनी को महाभारत की जानकारी थी। पाणिनी ईसवी सर के प्रचलित होने से पूर्व हुए थे। आधिकतर इतिहासकार इसी समय महाभारत की रचना होना मानते है।

3. महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचार

महाभारत का मुख्य विषय कौरवों और पाण्डवों का युद्ध ही है। लेकिन इसमें पुराण, धर्म, राजनीति, कूटनीति, दर्शन, अध्यात्मशास्त्र व अन्य प्राचीन वाग्डमय का भी समावेश हुआ है। प्राचीन भारतीय शासन पद्धति और राजनीतिक विचारों के अध्ययन हेतु महाभारत एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इन्हें हम व्यास के राजनीतिक विचार भी कह सकते है। कुछ विद्वान इन्हें भीष्म के मानते है। संभवत इन विचारों का प्रतिपादन मौर्यकाल से पूर्व हुआ होगा। व्यास ने कौटिल्य से पूर्व अपने विचार व्यक्त किए। शांतिपर्व का संकलन मौर्य व गुप्तकाल के बीच हुआ होगा। शांतिपर्व, आदिपर्व, सभापर्व में इन विचारों को देखा जा सकता है। कहीं कहीं प्रसंगवश भी इनका विकास हुआ है।

3.1 दण्डनीति

शांतिपर्व के राजधर्मानुशासन पर्व में राजनीतिक चिंतन मिलता है। साथ ही राजशास्त्र के निर्माताओं का भी इससे परिचय मिलता है। सर्वप्रथम ब्रहमा जी ने उस समय फैली अराजकता को दूर करने लिए 1 लाख श्लोकों में विशाल राजशास्त्र की रचना की। इसे कालान्तर मे शिव विशालाक्ष, इन्द्र, वृहस्पति तथा शुक्र ने–संक्षिप्त किया। दण्डनीति के महत्व को बताते हुए व्यास कहते है कि यदि दण्डनीति का लोप हो जाय तो वेद तथा अन्य सभी वर्णो एवं आश्रमों के धर्म क्षीण हो जायेंगे। व्यास ने सम्यक जीवन के निर्वाह के लिए राजधर्म (राज्य के कर्तव्यों के पालन) की महत्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया है। धर्म, अर्थ, काम भी राजधर्म पर ही आश्रित है। राजधर्म के पालन के बिना लोक संस्थाएं विचलित हो जाती है तथा सभी मर्यादाएं टूट जाती है। स्पष्ट है कि राजधर्म ही सब धर्मो से श्रेष्ठ है। वह लौकिक संदर्भ को चरितार्थ करता हुआ भी वस्तुतः धर्म पर आश्रित था।

3.2 राज्य संस्था की उत्पत्ति

राज्यसत्ता की उत्पत्ति के संदर्भ में महाभारत में महत्वपूर्ण चिंतन मिलता है। महाभारत में राजा से पूर्व की स्थिति की भी विवेचना की गई है। आरम्भ में न राजा था और न राज्य और न ही कोई दण्ड देने वाला। 59वें अध्याय में उल्लेख है कि प्रारम्भ में कृतयुग (पूर्णता की स्थिति) था, न राज्य था न राज्य, और न दण्ड था और न दण्ड देने वाला। क्रमश: लोगों में मोह उत्पन्न हुआ और तब लोभ, कामुक प्रेरणाओं उवं उद्दाम प्रवृत्तियों का उदय हुआ और वेद एवं धर्म का विनाश हो गया। देवों को आहुतियां मिलनी बन्द हो गई (मत्स्य न्याय उत्पन्न हो गया) और तब देव ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा ने एक महान ग्रंथ का प्रणयन किया। इसके उपरांत देव–गण विष्णु के पास गये और उनसे मनुष्यों में सर्वोत्तम व्यक्ति को राज्य बनाने की प्रार्थना की। विरजा को राज्य बनाया। विरजा उसके पुत्र एवं पौत्र ने राज्य के दायित्वों की ओर ध्यान नहीं दिया। छठी पीढ़ी के वेन को उसके अत्याचारों के कारण मार डाला गया। इसके बाद प्रथु जन्मा। देवों ने उसका अभिषेक किया। देवी एवं ऋषियों ने उसे सुनिश्चित धर्म के पालन के लिए प्रेरित किया तथा अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने की शपथ लेने को कहा। उसे ही देवों एवं ऋषियों ने जनरक्षण के लिए राजपद प्रदान किया। स्वयं विष्णु ने उससे कहा– "हे राजा, तुम्हारी आज्ञा के ' विरोध में कोई नही जायगा। प्रो. काणे के अनुसार इस वृत्तान्त से पता चलता है कि प्रथु को जो शपथ दिलाई गई वह मानवों के समक्ष ने होकर देवी के समक्ष हुई और उसने लोगों के समक्ष कोई प्रण नहीं किया। संभवत. देवों के समक्ष ली गई शपथ मनुष्यों के लिए भी जो, की त्यों मान ली गयी। यहाँ राजा का दैवीय स्वरूप दिखाई देता है। उसमें पांच देवों का वास – अग्नि, आदित्य, मृत्यु, कुबेर व यम माना गया। उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह प्रतीत होता है कि व्यास राजा की दैवीय उत्पत्ति के समर्थक है।

यद्यपि शांतिपर्व के 67वें अध्याय में राजा की उत्पत्ति का जो वर्णन मिलता है उससे सामाजिक अनुबंध के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। राजा को मनोनीत राजा और प्रजा के बीच हुए समझौते का परिणाम बताया गया है। मत्स्य न्याय से बचने के लिए प्रजा ने प्रजापति की सलाह पर मनु का राजा के रूप में वरण किया। मनु ने प्रजापति के समक्ष पहले तो इसे यह कह कर अस्वीकार किया कि शासन एक कठिन व्यापार है, विशेषत : मनुष्यों के बीच जो कि सदा कपटी होते है। मनुष्यों ने मनु से न डरने को कहा। उन्होंने अन्न का 10वां, पशु का पाँचवा, धर्म का चौथा भाग आदि देने का वचन दिया, तब मनु मान गये। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इसी तरह का विवरण मिलता है।

इस प्रकार, महाभारत में राजा की उत्पत्ति के संदर्भ में दैवीय मत व समझौते की भावना का मिला जुला रूप दिखाई देता है। एक तरफ राजपद दैवीय है तो दूसरी ओर लोगों द्वारा यह प्रकट सहमति की गई कि वे राजाज्ञा का पालन करेंगे।

3.3 राजा

महाभारत में राजा को सप्तांग स्वरूप वाला चित्रित किया गया है। राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र। राजा के ये सभी अंग एक दूसरे के पूरक है। प्राचीन काल

में राजतंत्र ही शासन का प्रचलित रूप था। महाभारत में भी राजा सभी राजनीतिक कार्यविधियों की केन्द्रीय धुरी है। प्राचीन काल में राजत्व बहुधा आनुवंशिक था पद्यपि निर्वाचन के भी कतिपय उदाहरण मिलते है। राजपद पर सामान्यत ज्येष्ठ पुत्र का ही अधिकार होता था। ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य होने पर छोटा भाई शासक बनता था। महाभारत मे भी उल्लेख आया है कि धृतराष्ट्र को अन्धे होने के कारण राजा नहीं मिला। अच्छे राजा के गुणों का उल्लेख कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्कय की भांति व्यास ने भी किया है। शांतिपर्व (70) में राजा के 36 गुणों की सूची दी गई है जैसे – उसे दुष्टता से दूर रहना चाहिए, धर्मनिष्ठ होना चाहिए, हठी नहीं होना चाहिए, प्रियवचन बोलना चाहिए आदि। कौटिल्य, कामंदक आदि राजशास्त्रियों ने भी राजा की विशेषताओं का उल्लेख किया है। इनमें काफी समानताएं है। कौटिल्य ने राजा की पांच विशिष्ट विशेषताएं बताई है – सत्यवादिता, पराक्रम, क्षमाशीलता, दानशीलता, एवं दूसरे की योग्यता को समझने की क्षमता। सभापर्व (5/107–109) में राजा के 14 दोषों का उल्लेख मिलता है। जैसे– नास्तिकता, असत्यवादिता, क्रोध, अनवधीनता, प्रमाद, समझदारी से न मिलना, आलस्य, पांच इन्द्रियों के सुखों में लगे रहना, मंत्रियों से सम्मति ने लेना, राजनीति–ज्ञान–विहीनों से सम्मति लेना, निर्णीत बातों के अनुसार न चलना, गुप्तनीति का पालन न करना, शुभकार्य न करना, एक ही समय सभी प्रकार की बातों को अंगीकार करना। महाभारत में राजा के छः विकारों का भी उल्लेख किया गया है – दिन में सोना, आलस्य, कायरता, रोष, सुकुमारता एवं दीर्घसूत्रता।

राजा की शिक्षा के संदर्भ में भी प्राचीन भारतीय ग्रंथों में उल्लेख मिलता है। महाभारत के शांतिपर्व व कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा की शिक्षा के चार विषय माने गये है – आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति।

3.4 राजा के कर्त्तव्य

राजा के उद्देश्यों व कर्त्तव्यों के बारे में महाभारत में सविस्तार उल्लेख है। राजा को प्रजा की सुरक्षा करनी चाहिए और व्यवस्था बनाए रखनी चाहिए। राजा के लौकिक महत्व को स्वीकारते हुए व्यास कहते है कि कभी भी अराजक (राजा विहीन) राष्ट्र में नहीं बसना चाहिए। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य प्रजापालन एवं प्रजारंजन माना गया है। राजा एवं प्रजा के बीच व्यवहार के संदर्भ में गर्भिणी स्त्री का आदर्श रखा है। जैसे गर्भिणी स्त्री अपने मन की बात छोड़कर केवल गर्भ के हित का ध्यान करती है, वेसे ही राजा को अपना वैयक्तिक सुख नहीं वरन् प्रजाहित को प्रमुखता देनी चाहिए। उस राजा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है जिसके राजा में प्रजा पिता कें घर में पुत्र की भांति निर्भय विचरती है।

(पुत्रा इव पितुर्गहे विषये यस्य मानवा:

निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तम: ।। शांतिपर्व, 57,. 33)

राजा के प्रमुख कर्त्तव्य थे – प्रजा का रक्षण या पालन, वर्णाश्रम–धर्म–नियम का पालन, दुष्टों को दण्ड देना तथा न्याय करना। सभापर्व में राजा के लोक कल्याणकारी स्वरूप का चित्रण मिलता है। राजा को निर्बल स्त्री, बाल, वृद्ध आदि की रक्षा व पालन विशेष रूप से करना चाहिए। उससे यह भी अपेक्षा थी कि वह गर्भवती स्त्रियों की सहायता (दवा, वस्त्र, निवास स्थान

देकर) करे। राजा का प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा करना माना गया है। यदि राजा अत्याचारी हो और प्रजा का समुचित ढंग से पालन न करे तो महाभारकार तो उसके वध करने की भी स्वीकृति देता है। भीष्म के मुख से कहलाया गया है ' सत्ता रक्षण न करने वाले अत्याचारी राजा कों प्रजा संगठित होकर पागल कुत्ते की भांति मार डाले। " वही राजा सर्वश्रेष्ठ कहा गया है जिसके राजा में प्रजा उसी प्रकार निर्भय विचरती है जैसे पिता के घर में पुत्र।

प्राचीन भारत में युद्ध भूमि में प्राण त्यागना सबसे बड़ा आदर्श माना जाता था। शांतिपर्व (78/31) में कहा गया है कि जिस प्रकार अश्वमेघ यज्ञ के उपरान्त राजा के साथ जो जो स्नान करते है सभी पापमुक्त हो जाते है, उसी प्रकार सभी जाति वाले सैनिक युद्ध में मर जाने पर पापरहित हो जाते है। महाभारत मेँ क्षत्रिय वीर के लिए घर में किसी रोग से मर जाना उचित नहीं माना गया। परम्परा के अनुसार उसे लोहे से ही मृत्यु का वरण करना चाहिए।

प्राचीन भारत में साम्राज्यवादी भावना का प्रसार भी हो गया था। चक्रवर्ती सम्राट की अवधारणा प्रचलित थी। राजा की दिग्विजयों द्वारा प्रभुता स्थापित होती थी। महाभारत मे पाण्डु, अर्जुन व अन्य पाण्डवों की दिग्विजयों का विवरण उपलब्ध है। प्राचीन शासक छोटे–छोटे राजाओं के राजा पर अधिकार करने में विश्वास नहीं रखते थे वरन् वे दूसरों द्वारा अपनी शक्ति या प्रभुत्व अंगीकार कर लेने को अधिक महत्व देते थे। अधीनस्थ राजा विजयी शासक को विभिन्न प्रकार की भेंट आदि प्रदान करते थे। सामान्यत अधीनस्थ राज्यों के आंतरिक प्रशासन में हस्तक्षेप नही किया जाता था।

प्रजा के वर्णधर्म की रक्षा करना भी राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। प्राचीन काल में धर्म का एक व्यापक स्वरूप था। श्रेष्ठ शासक वही माना जाता था जिसके राजा में कहीं भी अधर्मवादी गतिविधियां न हो। ज्ञानी व्यक्ति अपने अपने कर्त्तव्यों में रत हों। राजा को भी राजा में व्यवस्था बनाए रखने के प्रयास करने चाहिए। शांतिपर्व में कहा गया है कि राजा कों मद्यपान, वेश्याओं, जुआरियों, कुटनी, कुशील और अन्य आपराधिक वर्गो पर नियंत्रण रखना चाहिए नहीं तो सज्जन प्रजा कष्ट पाती है।

3.5 दण्ड व न्याय व्यवस्था

प्राचीन काल में दण्ड व न्याय का क्षेत्र भी राजा से सम्बद्ध था। राजा प्रजा पालन के लिए ही राजदण्ड धारण करता था। महाभारत में इसे ही क्षत्रिय धर्म माना गया है। महाभारत मे दण्ड कें स्वरूप के बारे में सविस्तार विवरण उपलब्ध है। दण्ड ही सबका नियंता है। महाभारत (शांतिपर्व 59/78 – 79) में दण्डनीति शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि दण्ड द्वारा ही यह विश्व अच्छे मार्ग पर लाया जाता है और यह शास्त्र दण्ड देने की व्यवस्था करता है, इसलिए इसे दण्डनीति की संज्ञा मिली है। यह तीनों लोकों में छाया हुआ है। डॉ. काणे के अनुसार शांतिपर्व दण्डनीति को राजधर्म से मिला दिया है। महाभारत (शांतिपर्व 12/23 – 24) में दण्डनीति के बारे में कहा गया है कि दण्ड सर्वत्र व्यापक होने के कारण भगवान् विष्णु है। दण्ड ही नारायण है। वह महान् रूप धारण करने वाला पुरूष है। इसी प्रकार, दण्डनीति को ब्रह्माजी की कन्या कहा गया है। लक्ष्मी, व्रत्ति, सरस्वती तथा जगद्धात्री भी उसी को कहा गया है। महाभारत के (शांतिपर्व 122/24–25) अनुसार जब विश्व में मत्स मत्स्यन्याय उत्पन्न हुआ,

तब ब्रह्माजी नें शंकर जी ने निवेदन किया वे वर्ण संकरता सें' बचने के लिए उपाय बताएं। तब शिवजी ने देर तक विचार करके स्वयं अपने आपको ही दण्ड के रूप में प्रकट किया। तब धर्माचरण होता देख कर नीतिस्वरूप देवी सरस्वती ने दण्डनीति की रचना की जो तीनों लोको में विख्यात है। महाभारत में व्यवहार शास्त्र को दण्डनीति से अभिन्न माना गया है।

महाभारत में दण्ड की अनिवार्यता व उत्पत्ति के बारे में भी विवरण है। मनुस्मृति (7/25) में दण्ड के रौद्ररूप का उल्लेख मिलता है। मनु नें दण्ड कों श्यामवर्ण, लाल नेत्रों वाला एवं पापनाशक कहा है। दण्ड के इस रूप का उल्लेख महाभारत में भी हुआ है। कहा गया है कि दण्ड के शरीर का रंग नीलकमल दल के समान श्याम है, इसके चार दाढें और चार भुजाएं है, आठ पैर और अनेक है, इसके कान खूंटे के समान है और भौंएं ऊपर की ओर उठे हुए है। इसके सिर पर जटा है। मुख में दो जिव्हाएं है तथा मुख का रंग तांबे के समान है। शरीर पर उसने व्याधचर्म धारण कर रखा है। स्पष्ट होता है कि दण्ड का स्वरूप भयानक है। दण्ड ही इस लोक को सत्य में स्थापित करता है। इसी के माध्यम से लोकरक्षा तथा स्वधर्म की रक्षा की जानी चाहिए।

न्याय प्रदान करवाना राजा का प्रमुख कर्तव्य था। वह अपराधियों के प्रति दण्ड का प्रयोग करता था। व्यास के अनुसार राजा को न्यायिक प्रशासन कुल धर्म, जातिधर्म, देशधर्म आदि के अनुरूप ही करना चाहिए। प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों ने राजा को निर्देश दिया है कि दण्ड का प्रयोग धर्मानुसार ही किया जाना चाहिए।

प्रजा कें भौतिक स्तर को उच्च बनाए रखने का भी राजा प्रयास करता था। प्राचीन काल में राजा कृषि के विकास हेतु किसानों को पूर्ण सुविधाएं प्रदान कराता था। सभापर्व (5/77) में उल्लेख है कि राजा राजा के विभिन्न भागों में तालाब और जलबंध बनवाए और यह देखे कि कृषि केवल वर्षा जल पर ही निर्भर न रहे। कृषि योग्य भूमि का भी विस्तार करवाया जाता था। राजा रोगों को फैलने से रोकने का प्रयास करता था, आवागमन के साधनों में वृद्धि करवाता था, चोरी आदि अपराधों को रोकने का प्रयास किया जाता था। शांतिपर्व (75/10) में उल्लेख है कि राजा को चोरों से चोरी का माल लेकर वास्तविक स्वामी को बिना जाति का विभेद किये, दिला देना चाहिए। यदि राजा ऐसा न कर सके तो उसे राजकोष से उसकी पूर्ति करनी चाहिए। यदि प्राप्त किया हुआ धन राजा स्वयं रख ले या चोरों को पकड़ने का भी प्रयत्न न करे या अपने कोष से चोरी के माल की पूर्ति भी न करे तो उसे पाप लगेगा। स्मृतिकार याज्ञवल्क्य (2/270/272) नारद (परिशिष्ट 16–21) एवं कात्यायन कहते है "राजा को चोर द्वारा सारी सम्पत्ति या उसका मूल्य दिला देना चाहिए। यदि चोर न पकड़ा जा सके तो राजकर्मचारी एवं परिरक्षक को चोरी के सामान का मूल्य चुका देना चाहिए। यदि चोर के पदचिन्हों की पहचान न हो सके तो ग्रामाध्यक्ष को चोरी का सामान देना चाहिए। 'चोरी का स्थान चरागाह या जंगल में हो और चोर का पता न चल सका हो तो स्वयं राजा को ही धन देना चाहिए। "प्राचीन भारत में क्षतिपूर्ति की यह अनोखी व्यवस्था थी। नागरिकों की सम्पत्ति की सुरक्षा का दायित्व राजा का था। यदि चोरी का स्थान जंगल न होकर मार्ग (सड़क पर) हो तो चोरों का पता लगाने कें लिए नियुक्त राजकर्मचारियों को क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। यदि चोरी ग्राम में हुई हो– तों सबको मिल कर क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। यदि चोरी का स्थान ग्राम से हटकर एक कोस की दूरी पर हो तो

चारों ओर के पांच या दस ग्रामों को मिलकर क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। प्राचीनकाल में अपराध के प्रति उत्तरदायिलव की भावना व सजगता का यह एक अनूठा उदाहरण है।

3.6 अन्तर्राज्य संबंध

अन्तर्राज्यीय संबंधों को विकसित करने का दायित्व भी राजा का होता था। राजा साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित बाजपेय, पुण्डरीक, सर्वमेध, अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों का संपादन करते थे। महाभारत में शत्रु व मित्र के बारे में भी चर्चा की गई है। व्यास के अनुसार शत्रु कों कमजोर नहीं समझना चाहिए। महाभारत में बलवान शत्रु के प्रति किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए, इस पर व्यापक चर्चा हुई। शत्रु के बालक या बूढ़ा होने पर भी उसे कमजोर समझना उचित नहीं है, क्योंकि वह विपक्षियों को असावधान देखते ही नष्ट कर सकता है। बड़े हुए बैरी को बुद्धि बल से ही नष्ट किया जाना चाहिए। युद्ध में विजय प्राप्त करने के संदर्भ में कहा गया है कि किसी राजा को अधर्म के अनुसार विजय की इच्छा नही करनी चाहिए। महाभारत में विशाल सेना का उल्लेख है। सभापर्व में चतुरंगिणी सेना का विवरण है जिसमें हाथी, रथ, घोड़े और पैदल शामिल होते थें। विजय प्राप्त करनें में उत्साही योद्धाओं की प्रमुख भूमिका मानी गई है।

गुप्तचर दूतों का भी महाभारत में उल्लेख है। दूतों के द्वारा सारी स्थिति को जानकर ही शासक को कार्य आरम्भ करने चाहिए। राजा को दूत का कभी वध नहीं करना चाहिए। जों पुरूष कुलीन, वाग्मी (अच्छा बोलने वाला), दक्ष, प्रिय वचन कहने वाला, यथोक्तवादी और स्मृतिवान हो, उसे ही दूत बनाया जाना चाहिए। गुप्तचरों को सार्वजनिक स्थानों, बगीचों, दुकानों, विद्वानों की बैठकों और साधारण जन समूहों की भीड़ में भेजा जाना चाहिए जिससे की वस्तुस्थिति का बोध हो सके।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अनुसार राजा को सतत् कार्यशील रहना चाहिए। उसे किसी भी स्थिति में प्रमादी एवं भाग्यवादी नहीं होना चाहिए। याज्ञवल्क्य व कौटिल्य दोनों के अनुसार 'महोत्साह " राजा का प्रमुख गुण है। महाभारत में बहुत से स्थलों पर मानवीय प्रयत्न एवं दैव से सम्बन्धित चर्चा मिलती है। कहीं ' 'दैव " पर अधिक बल दिया गया है तो कहीं ' 'पुरूषकार" पर। व्यास कई स्थलों पर लिखते है कि व्यक्ति को प्रयत्न करते रहना चाहिए और भाग्य के भरोसे नहीं बैठ जाना चाहिए। (द्रोण 152/27, शांति. 27/32, 58/13 – 16, 153/50, अनुशासन 6/1 सैप्तिक 2/12 – 13 एवं 23 – 24)। स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत कें अनुसार उत्साहपूर्ण कर्म ही राजधर्म का मूल है। अतएव, राजा को सर्वदा सक्रिय रहना चाहिए।

3.7 आपदधर्म

महाभारत में राजा के आपद्धर्म की भी पर्याप्त चर्चा हुई है। युधिष्ठिर व भीष्म के संवाद में इसकी एक झलक मिलती है। युधिष्ठर ने भीष्म से प्रश्न किया कि जिस राजा को मित्रों ने छोड़ दिया हो, जो कोषहीन तथा बलहीन हो, जिसकी मंत्रणा सब प्रकार से निकल हुई हो तथा जो राजा पूर्णरीति से राजा की रक्षा नहीं कर सके, उसके लिए क्या उपाय है? भीष्म ने इस प्रश्न का उत्तर विस्तार से दिया है। आपातकाल में अधर्म भी मान्य हो जाता है। अधर्म कें दोषों

को दूर करनें के लिए बाद में प्रायश्चित का विधान है। आपातकाल में राजा सभी के धन का अधिग्रहण कर सकता था (श्रेष्ठ क्षत्रियों, तपस्वियों ब्राह्मणों को छोड़कर)। आपातकाल में राजा और प्रजा दोनों को ही परस्पर रक्षा करनी चाहिए। महाभारत के अनुसार अल्पधन वाला राजा यदि प्रजा समूह से रक्षित न रहे, तो वह नष्ट होता है और राजा के नष्ट होने पर सब प्रजा नष्ट हो जाती है। कोष ओर सेना ही राजा का मूल है, इसलिए कोष की वृद्धि की जानी चाहिए। क्षत्रिय राजा को डाकू और क्रियाहीन लोगों के धन को ले लेना चाहिए। क्षत्रियों को ही इन सब प्रजाओ के पालन करनें और राजा भोगने का अधिकार है, इसलिए सब धन क्षत्रियों के लिए अधिकृत है। यह धन राजा कें बल अथवा यज्ञ का कारण हुआ करता है। धार्मिक राजा उस धन का हरण करे और सब लोगों को प्रसन्न करे। (शांति पर्व 136, 1–7) आपदाग्रस्त राजा को अपने राजा व दूसरे राजा से धन संग्रह करना चाहिए। धन से ही धर्म और मूल राजा की वृद्धि हुआ करती है। राजा को धन, बल और मित्रों की वृद्धि के प्रयास करने चाहिए (शांति पर्व 133:1–5)। महाभारत के समान आपधर्म का विवरण मनु व याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में भी मिलता है। मनु ने अध्याय चार में विभिन्न वर्णों के सदस्यों को ऐसे व्यवसाय करने की आज्ञा दी है जिन्हें साधारण काल में करने की आज्ञा न हों।

3.8 युद्ध संबंधी नियम

भीष्म पर्व (1/27–32) में कौरवों एवं पाडवों द्वारा स्वीकृत युद्ध संबंधी कुछ नियमों का भी उल्लेख है। भीष्म का अधिकांश जीवन युद्धों मे व्यतीत हुआ था। शर शैया पर पड़े हुए उन्हें युद्ध की निंदा करते हुए दिखाया गया है। उन्होंने युधिष्ठिर कें समक्ष जो विचार रखें है उनसें स्पष्ट होता है कि युद्ध कों वे अंतिम साधन के रूप में मानते थे। केवल साम्राज्य विस्तार की भावना से युद्ध नहीं करना चाहिए। राजा को साम, दान और भेद की नीति कों ही अपनाना चाहिए। राजा को अपनी प्रजा की रक्षा हेतु ही युद्ध का प्रयोंग करना चाहिए यही विधिसम्मत (शांतिपर्व 12/66) माना गया है। शरणागत की रक्षा करने का युद्ध भी विधि सम्मत माना गया है।

प्राचीन भारत में युद्ध करते समय कुछ विशेष नियमों का पालन किया जाता था। महाभारत के युद्ध सम्बन्धी नियम मानव धर्मशास्त्र से मिलते जुलते है। शांतिपर्व में कहा गया है कि राजा का युद्ध राजा से ही होना चाहिए। शरण में आए हुए का वध नहीं करना चाहिए। दो शत्रुओं की सेनाओं के मध्य यदि ब्राह्मण शांति अवलम्बन हेतु आदेश दे तो दोनों दलों कों शांति अवलम्बन कर युद्ध से निवृत हो जाना चाहिए। रथ पर चढ़े योद्धा के मुकाबले में क्षत्रिय को घोड़े पर नही चढ़ना चाहिए। जिस योद्धा का शस्त्र टूट जाए या जो वाहनहीन हो, उसका वध नही करना चाहिए। युद्ध में बालक, स्त्री और रथ के पृष्ठ भाग में रहने वाले पुरूषों का वध नहीं करना चाहिए। दूत को भी अवध्य माना गया है। जो पुरूष युद्ध में कवच रहित होकर और हाथ जोड़कर कहे कि मैं आपकी शरण में हूं और ऐसा कह कर शस्त्र त्याग दे, तो राजा को उसका वध नहीं करना चाहिए। महाभारत में राजा को निर्देश दिए गए है कि उसे भय रहित होकर युद्ध में लड़ना चाहिए। युद्ध स्थल से कभी पीठ नहीं दिखानी चाहिए। कहा गया है कि जो शूर पुरुष प्राण की आशा छोड़कर युद्ध में सम्मिलित हों कर पीठ नहीं दिखाते अर्थात् भागते नहीं, वें

इन्द्रलोक में वास करते है। महाभारत में अन्य बहुत से नियमों का भी उल्लेख हुआ है यद्यपि व्यवहारत: इनका किस सीमा तक पालन किया जाता होगा, यह निश्चित नहीं है। महाभारत के युद्ध में बहुत से नियम टूटते दिखते है। द्रोणपर्व में रुद्ध संबंधी नैतिकता का अभाव है।

3.9 कराधान

प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था के दो प्रमुख आधार थे – करकोष व सैन्य बल। करकोष भरने का प्रमुख साधन था। प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों कें अनुसार राजा प्रजा की रक्षा करना है इसलिए उसे कर लेने का अधिकार प्रदान किया गया है। शांतिपर्व में उल्लेख है कि राजा को प्रजा से छठा भाग कर के रूप में ग्रहण कर उसके द्वारा प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो राजा अपने इस कर को प्रजा से ग्रहण तो कर लेता है परन्तु प्रजा की भली भांति रक्षा नहीं करता, वह चोर के समान है।

राजा के कर्त्तव्यों की श्रृंखला अत्यंत विस्तृत थी। सभापर्व में राजा युधिष्ठर नें नारद से बहुत से प्रश्न पूछें है जैसे – "तुम्हारा धन संचित और उचित कार्य में तो व्यय हो रहा है? तुम्हारा मन धर्म पर तो बना हुआ है? तुम अर्थ कें लिए धर्म की और धर्म कें लिए अर्थ की हानि तो नहीं पहुंचा रहे? " आदि। इन विभिन्न प्रश्नों सें इस ओर संकेत मिलता है कि राजा के आर्थिक कार्यकलाप भी महत्वपूर्ण थे।

कर–ग्रहण करने के संदर्भ में बहुत सें सिद्धान्तों का निर्माण किया गया और राजा को बहुत सें निर्देश भी दिए गए। कर–ग्रहण का प्रमुख सिद्धान्त यह था कि राजा मनमाने तरीकें सें कर नहीं ले सकता था। वह स्मृतियों द्वारा निर्धारित कर ही ले सकता था। महाभारत में राजकार्य के संचालन हेतु राजा को धर्मानुसार ही कर लेने को कहा गया है। राजा को यह राशि प्रजा के हितकर कार्यो में ही व्यय करनी चाहिए।

दापयित्वा करं धर्म्य राष्ट्र नीत्यायथाविधि ।

तथैतं कल्पयेंद्राजा योग क्षेममतन्द्रित: ।। (शांतिपर्व 71:11)

भीष्म युधिष्ठिर से कहते है कि राजा कों प्रजा से अत्यधिक कर नहीं लेना चाहिए। राजा कों बछड़े के समान राष्ट्र का दोहन करना चाहिए। बछड़े को अधिक दूध पिलाए जाने पर वह आगे चल कर बलवान बनेगा व अधिक बोझ ढोएगा। कर–ग्रहण भी इसी प्रकार किया जाना चाहिए कि प्रजा की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनी रहें। विशेष परिस्थितियों में वह अधिक कर ले सकता था। कौटिल्य व मनु की भांति व्यास कहते है कि आपत्तियों कें समय राजा को आपत्तिकाल में भारी कर लगाने के लिए प्रजा सें स्नेहपूर्ण याचना (प्रणय) करनी चाहिए और अनुर्वर भूमि पर तो भारी कर लगाना ही नही चाहिए। आपत्तिकाल में भी एक सें अधिक बार कर नहीं लगाना चाहिए। शांतिपर्व में कहा गया है कि राजा को चाहिए कि वह प्रजाजनों के समक्ष भाषण करे और प्रजा को उसके ऊपर पड़ने वाले दुष्परिणामों से अवगत कराए। मधुर एवं युक्तियुक्त वचनों से प्रजा में धन देने के पक्ष में जनमत उत्पन्न कर प्रजा' सें धन ग्रहण किया जाना चाहिए। कर ग्रहण का दूसरा सिद्धान्त प्रतीकात्मक शैली का है जिसके अनुसार राजा कों उतनी ही मात्रा में कर लगाना चाहिए जिसे प्रजा बिना किसी कठिनाई के दे सके। इस संदर्भ में शांतिपर्व का निम्न श्लोक उल्लेखनीय है–

मधु दोहं भ्रमरा इव पादपम्।

वत्सांपेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्। । शांतिपर्व 88 : 4

जैसे बछड़ा माता के स्तन को न काट कर केवल दुग्धपान करता है और मधुमक्खी या अमर पुष्प से मधु का पान करते है, उसी प्रकार राजा को कर ग्रहण करना चाहिए। उद्योगपर्व (34/17–18) में भी कहा गया है कि जिस प्रकार मधुमक्खी मधु तो निकाल लेती है किंतु फूलों को बिना पीड़ा पहुंचाए छोड़ देती है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा से, बिना कष्ट पहुंचाए कर लेना चाहिए। मधुमक्खी मधु के लिए प्रत्येक फूल कें पास जा सकती है किंतु उसे फूल की जड़ नहीं काट देनी होंती। राजा को माली के समान व्यवहार करना चाहिए न कि अंगारकारक (कोयला फूंकने वाले) के समान (जो कोयल बनाने के लिए सम्पूर्ण पेड जड़ो सहित काट देता है। शांतिपर्व (4,5.6/88) में इस संदर्भ में बाघिन, भ्रमर और जल जोक के दृष्टांत दिये गये है। बाघिन अपने मुख में दांतों के मध्य अपने शिशु को पकड़ कर उसे एक स्थान– से दूसरे स्थान पर ले जाती है लेकिन शिशु को पता ही नहीं चलता कि वह कब एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया गया। भ्रमर पुष्प पर बैठ कर मधु पान कर उड़ जाता है, परंतु पुष्प को इसका अनुभव ही नहीं होता। जल जौक चुपके से पशु के शरीर में चिपट कर रक्त पान कर उसके शरीर से पृथक हों जाती है परंतु पशु कों इसका अहसास तक नहीं होता।

महाभारत में लाभ पर कर लगाने की बात कही गई है। मनु की भांति महाभारतकार इस बात का निर्देश देते है कि राजा को मूलधन पर कर नहीं लगाना चाहिए। व्यवसाय में जों पूंजी लगी हो उसके लाभ पर ही कर लगाना चाहिए। (शांतिपर्व 10/71)

महाभारत में राजा को भी वेतन भोगी बताया गया है। शांतिपर्व में कहा गया है कि बलि, शुल्क, दण्ड आदि करों द्वारा जो धन राजा प्राप्त करता है वह राजा का वेतन होता है। मनु की भांति महाभारत में प्रजा पर सामर्थ्य से अधिक कर लगाने का निषेध किया गया है। शांतिपर्व (21,22/89) में कहा गया है प्रजा की सामर्थ्य, समय एवं परिस्थिति को देख कर नियमानुसार कर लगाने चाहिए। उस राजा की निन्दा की गयी है जिसके अधीन प्रजा करो के भार से दुखी रहती है। करों की वृद्धि भी अचानक नहीं करनी चाहिए। यह वृद्धि इस प्रकार होनी चाहिए कि कर–दाता कों इसका बोध न होने पाए। प्रजा पर एक साथ कर भार आने से उसके विद्रोही होने की संभावना पैदा हो जाती है। विविध प्रकार के करों में बलिकर, पशु–कर, हिरण्य कर, शुल्क, दण्ड, आयकर, लवणकर, तरण कर आदि उल्लेखनीय है। बलि खेती आदि की पैदावार का अंश होता था जो सामान्यत : पैदावार का छठा भाग होता था। इसका उद्देश्य प्रजाजन की रक्षा करना ही माना जाता था। पशुओं की बिक्री पर कर लिया जाता था व्यापारियों से हाट व बाजार में माल की बिक्री पर शुल्क लिया जाता था। खनिज पदार्थों पर लगाया जाने वाला कर, आयकर कर दण्ड या जुर्माने से भी. राजकोष की वृद्धि होती थी। कर निर्धारित करते समय देश और काल को ध्यान में रखा जाता था। व्यापारियों, शिल्पियों आदि से कर लेते समय यह ध्यान में रखा जाता था कि उनको कितना लाभ हुआ, उनके परिवार संबंधी कितने खर्चे है, आदि। शांतिपर्व (87/13–14) में कहा गया है कि व्यापारी पर कर लगाते समय यह देखना चाहिए कि उसके माल की क्या कीमत थी? ढुलाई का क्या खर्चा था? किस कीमत पर उसका

माल बिका? उसके जोते क्षेत्र की क्या स्थिति है? शिल्पियों के माल का उत्पादन, व्यय, खर्चा और शिल्प की क्या दशा है। स्पष्ट है, महाभारत में कर ग्रहण करतें समय करदाता की स्थितियों का ध्यान रखा जता था। महाभारत में कहा गया है कि यदि जनता का बहुत अधिक दोहन किया जाए तो उसकी कर्म करने की चेष्टा नष्ट हो जाती है।

(राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरूते भ्रशम।) शांतिपर्व (87/21)

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेता इस बात के प्रति सजग थे कि कर वसूल करने वाले अधिकारी भी भ्रष्ट हो सकते थे। राजा को इनसे प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।

3.10 गणराजा संबंधी विचार

प्राचीन भारतीय गणराजा व्यवस्था का वर्णन कौटिल्यीय अर्थशास्त्र व पाणिनी की अष्टाध्यायी के अलावा महाभारत में भी हुआ है। यद्यपि महाभारत में कुरू जनपदों कें कौरवों और पाण्डवों का विवरण है पर प्रसंगवश अन्य राज्यों और उनके राजाओं का वृत्तान्त भी इसमें संकलित है। महाभारत में उल्लिखित राज्यों में कुछ गणतंत्रात्मक प्रकृति के भी थे जिनमें यौधेय, मालव, शिवि आदि उल्लेखनीय है। कुछ गणराज्यों ने अपना संघ बना रखा था। यादव, कुकुर, भोज, अन्धृक और वृष्णि आदि ने स्वयं को एक संघ में संगठित कर रखा था। श्रीकृष्ण वृष्णिगण में उत्पन्न हुए थे जो यादव संघ के अन्तर्गत एक गणराजा था। महाभारत में कर्ण विजय पर्व में भद्र, रोहितम, आग्रेय और मालव जनपदों का विशेष रूप से उल्लेख है। सभापर्व में भी बहुत से जनपदों का उल्लेख है–जैसे औदुम्बर, शिवि, त्रिगर्त, यौधेय, अम्बष्ठ, क्षुद्रक, मालव आदि। प्राचीन भारत में गणराज्यों का क्या स्वरूप था, उनकी आंतरिक दुर्बलाएं क्या थी– इन सब बातों की पर्याप्त जानकारी महाभारत से होती है। शांतिपर्व (107) में गणराज्यों के विषय में कहा गया है – ' गणों के नाश का कारण है आंतरिक कलह, जहां बहुत से शासक हो वहां नीति का रहस्य छिपा नहीं रह सकता। सभी सदस्य निर्धारित नीति को जानने के अधिकारी नहीं हो सकते। गण के रक्षार्थ प्रमुख व्यक्तियों को आपस में विचार–विमर्श करना चाहिए। यदि गण के विभिन्न कुलों में कलह उत्पन्न हो जाये और कुलों के मुख्य लोग उसे संभाल न सके तो गण में गड़बडिया उत्पन्न हो जायेंगी। गणराज्यों के विषय में आंतरिक कलहों का मिट जाना परमावश्यक है। बाहरी भय उतने गंभीर नहीं होते जितने कि भीतरी। गण के सदस्य जन्म एवं कुल परम्परा में समान होते है, किन्तु शौर्य, मेधा, शरीर स्वरूप एवं धन के बराबर नहीं होते। आंतरिक कलह एवं घूस शत्रु गणों को तोड़ डालते है। गणों को सुरक्षित रहने के लिए अपनी एकता कायम रखनी चाहिए।" गणों का अकेले अपनी रक्षा कर सकना सुगम नहीं था। इसलिए भीष्म ने उन्हें परस्पर ' 'संघात " बनाकर रहने को कहा। गणों की रक्षा व उन्नति के लिए बहुत सी बातें बताई गयी है, जैसे. शास्त्रानुकूल जो धर्म व व्यवहार चले आ रहे हो उनका पालन करना गणमुख्यों का सम्मान करना, मंत्रणा को गुप्त रखना, गणो में पारस्परिक फूट न होने देना आदि। महाभारत के अनुसार संघ के नेता में चार गुण पाये जाने चाहिए, यथा दूरदर्शिता, सहिष्णुता, आत्म निग्रह एवं अर्चनप्रव्रत्ति का त्याग।

4. इकाई सारांश

महाभारत संस्कृत साहित्य का सबसे बड़ा महाकाव्य है। इसके रचयिता वेदव्यास माने गये है। महाभारत की मुख्य क्या कौरवों व पाण्डवों के युद्ध की क्या है लेकिन इसके अलावा नीति, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि से संबंधित बहुत सा विवरण भी इसमें उपलब्ध है। महाभारत में विभिन्न स्थलों पर राजा संबंधी चिंतन भी मिलता है। शांतिपर्व, आदिपर्व, वनपर्व आदि से प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों की जानकारी मिलती है। अर्थशास्त्र की भांति महाभारत में भी दण्डनीति के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। शांतिपर्व में राजसत्ता की उत्पत्ति से संबंधित विवरण उपलब्ध है। इसमें राजत्व की दैवीय उत्पत्ति के साथ–साथ सामाजिक समझौते द्वारा राजा की उत्पत्ति भी बताई गई है। राजा के सप्तांग स्वरूप का उल्लेख भी महाभारत में हुआ है। राजा के लिए राजा संचालन हेतु राजधर्म की भी व्याख्या की गई है। इसमें राजा के बहुत से कर्त्तव्य भी बताए गए है। अन्तर्राज्यीय संबंधों को विकसित करना भी राजा के महत्वपूर्ण दायित्वों में से एक था। दूतों व गुप्तचरों का भी महाभारत में उल्लेख हुआ है। महाभारत मे राजा कें आपद्धर्म की भी पर्याप्त चर्चा मिलती है। आपातकाल में ऐसी बहुत सी बातें मान्य थी जो सामान्यकाल में अनुचित मानी जाती थी। महाभारत में युद्ध संबंधी नियमों का उल्लेख मिलता है। न्याय व्यवस्था, कराधान, गणराजा संबंधी विवरण भी महाभारत में उपलब्ध है। इन समस्त तत्वों की सम्मिलित उपस्थिति ने महाभारत को राजनीतिक चिंतन का विपुल स्रोत बना दिया है। यही उसकी महत्ता है।

5. अभ्यास प्रश्न

प्रश्न–1 महाभारत में वर्णित राजनीतिक विचारों पर एक लेख लिखिए।

प्रश्न–2 राजा संस्था की उत्पत्ति कैसे हुई? स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न–3 महाभारत में वर्णित दण्ड एवं न्याय व्यवस्था की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न–4 आपद्धर्म क्या है? चर्चा कीजिए।

प्रश्न–5 महाभारत राजा के प्रजा के प्रति क्या प्रमुख कर्त्तव्य प्रतिपादित करता है?

प्रश्न–6 महाभारत में कराधान की क्या व्यवस्था प्रतिपादित की गई?

6. संदर्भ ग्रंथ

1. महाभारत गीता प्रेस, गोरखपुर
2. अल्तेकर, अंनत सदाशिव, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति
3. विद्यालंकर, सत्यकेतु, प्राचीन भारत शासन पद्धति
4. दीक्षित, प्रेमकुमारी, महाभारत में राजा व्यवस्था
5. पाण्डे, श्यामलाल, भीष्म का राजधर्म
6. भण्डरकर, डी.आर., सम आस्पैक्टस ऑफ एन्सिशएंट हिन्दू पोलिटी
7. शर्मा, आर.एस., आस्पैक्टस ऑफ पोलिटकल आइडियाज एण्ड इंस्टीटीयूशन्स इन: एन्सिशएंट इंडिया
8. घोषाल, यू.एन., ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन पॉलिटिकल अइडियाज

9. शर्मा, कमलेश, प्राचीन भारत में राजा व विधि

इकाई – 6

कौटिल्य के राजनीतिक: विचार

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. कौटिल्य का परिचय
4. कौटिल्य के राजनीतिक विचार
   - 4.1 शासन के प्रकार
   - 4.2 दण्डनीति
   - 4.3 सप्तांग राज्य की अवधारणा
   - 4.4 राज्य की उत्पत्ति
   - 4.5 राजा
   - 4.6 कर्तव्य व उत्तरदायित्व
   - 4.7 मंत्रिपरिषद्
   - 4.8 अन्तर्राज्य सम्बन्ध
5. इकाई सारांश
6. अभ्यास प्रश्न
7. संदर्भ ग्रंथ

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है–

(1) प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेता कौटिल्य के राजनीतिक विचारों का अध्ययन

(2) राज्य के विविध पक्षों एवं प्रक्रियाओं का सम्बोधन, तथा

(3) कौटिल्य द्वारा वर्णित राजनीतिक प्रक्रिया से अन्तरंग परिचय।

2. प्रस्तावना :

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की दो परम्पराएं थी– अर्थशास्त्र परम्परा व धर्मशास्त्र परम्परा। कौटिलीय अर्थशास्त्र – अर्थशास्त्र परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। कौटिल्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में उसे चाणक्य भी कहा गया है। कादम्बरी, मुद्राराक्षस तथा पंचतंत्र आदि में कौटिल्य शब्द का प्रयोग मिलता है। ये तीनो नाम एक ही व्यक्ति के है। भारतीय ऐतिहासिक परम्परा कौटिल्य को चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ सम्बद्ध करती है। उसने नंद साम्राज्य को जड़ से उखड़ कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का सम्राट बनाया। कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन संचालन के लिए इस ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ की खोज सर्वप्रथम आर.शामशास्त्री ने 1409 में की थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र के उद्धारक के रूप में

शामशास्त्री का स्मरण हमेशा किया जाएगा। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र की खोज से प्राचीन भारतीय राजाव्यवस्था के क्षत से महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश पड़ा।

3. कौटिल्य – एक परिचय

भारतीय साहित्यिक परम्परा अर्थशास्त्र के निर्माण का श्रेय विष्णुगुप्त या कौटिल्य को देती है। अर्थशास्त्र में भी कई महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते है जिससे हमें इसके रचयिता का बोध होता है। इसके प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अंत में कौटिल्य इस शास्त्र के प्रणेता बताए गये है। द्वितीय अधिकरण के 10वें अध्याय के अंत में भी यह उल्लेख आया हैं :

'सर्वशास्त्रण्यनुक्रम्य प्रयोगयुपलम्य च।

कौटिंल्येन नरेन्द्रार्थ शासनस्य विधि कृत: ।।"

(आचार्य कौटिल्य ने सम्पूर्ण शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करके और उनके प्रयोग की अच्छी तरह परीक्षा करके ही राजाओं के लिए इस शासन विधि की रचना ही है)। अर्थशास्त्र के 15वें अधिकरण का निम्न श्लोक भी दृष्टव्य है–

"येन शास्त्रं च शस्त्र च नन्दराजगता च भू:।

अमर्षेणोदधृतान्याशु तेन शास्त्रभिवम् कृतम्।।"

(जिसने शास्त्र, शस्त्र तथा नन्दराजा के अधीन हुई भूमि का क्रोधपूर्वक शीघ्र उद्धार किया, उसी ने इस शास्त्र की रचना की)।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ही जिन्होंने नंदवंश का उन्मूलन किया था, अर्थशास्त्र के प्रणेता है। उसका रचना काल चौथी शताब्दी ई पू. निश्चित किया जा सकता है। इस तिथि का अनेक इतिहासकारों ने समर्थन किया है यथा– जे एस. प्लीट, मेअर आदि।

अब हमारे समक्ष यह प्रश्न उठता है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र से क्या तात्पर्य है। प्राचीन भारत में राज्य–शास्त्र के अनेक नाम थे जैसे– राजधर्म, दण्डनीति, अर्थशास्त्र आदि। अर्थशास्त्र को दण्डनीति के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त किए जाने के उद्धरण मिलते है। प्राचीन भारतीय विद्वान ' 'अर्थ " का अर्थ सामान्य भौतिक सम्पदा की तरह नही मानते थे। अर्थ को त्रिवर्ग– (धर्म, अर्थ व काम) में से मानव जीवन का एक प्रमुख लक्ष्य मानते थे। कौटिल्य ने भी मानव कल्याण के लिए अर्थ को महत्व दिया तथा यह मत प्रतिपादित किया कि केवल राज्य द्वारा ही पृथ्वी का संरक्षण किया जा सकता है और राज्य की भूमि का विस्तार किया जा सकता है। अर्थशास्त्र से स्पष्ट है कि राज्य का क्षेत्र उत्पादन, वितरण व उपभोग आदि आर्थिक कार्य–कलापो से भी सम्बन्धित था। कौटिल्य के समक्ष दो ही मुख्य लक्ष्य थे–

एक तो राजा अपने राज्य को किस प्रकार सुरक्षित रखे तथा दूसरा यह कि राजा कैसे अपने राज्य का विस्तार करे। अर्थशास्त्र के संदर्भ में अल्तेकर का यह मत दृष्टव्य है कि अर्थशास्त्र प्रशासन के मूलभूत सिद्धान्त और उसका दर्शन या राजनीतिक विचारों के सैद्धान्तिक पक्ष पर वाद–विवाद हेतु लिखा गया ग्रंथ न होकर किसी प्रशासक अथवा शासन के, दिन प्रतिदिन के शासन संचालन एवं कठिनाइयों के निराकरण हेतु लिखी गयी एक नियमावली है।

(स्टेट एण्ड गवर्नमैट इन एन्सिएंट इण्डिया, पृ.110)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र को सामान्यरूप से तीन भागों में विभाजित कर सकते है– प्रथम तंत्र के अन्तर्गत प्रारम्भिक पांच अध्यायों या अधिकरणों को रखा जा सकता है। इनमें राज्य के आंतरिक प्रशासन सम्बन्धी विवरण उपलब्ध है। द्वितीय भाग के अंतर्गत 6 से 13 तक कें अध्याय आते है जिनमें पड़ौसी राज्यों से संबंधित विवरणों का उल्लेख है। तीसरे के अंतर्गत 14वें व 15वें अध्यायों को रखा जा सकता है।

4. कौटिल्य के राजनीतिक विचार –

कौटिलीय अर्थशास्त्र की प्रमुख धुरी विजिगीषु सम्राट है। कौटिल्य का संपूर्ण राजनीतिक चिंतन इसके इर्द–गिर्द ही घूमता है। विजिगिषु से तात्पर्य ऐसे सम्राट से है जो अपने समीपवर्ती राज्यों पर आधिपत्य स्थापित कर एकछत्र सम्राट बनने की इच्छा रखता है। कौटिल्य के राजनीतिक विचारों की दृष्टि से अर्थशास्त्र का 6वां अधिकरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसमें राज्य के सप्तांग स्वरूप की अवधारणा पर बल दिया गया है। कौटिल्य ने राज्य के सात अंगों पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार किया है। अंतर्राज्यीय संबंधों पर भी उसमें विस्तार से उल्लेख मिलता है। प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था का सम्पूर्ण चित्र कौटिलीय अर्थशास्त्र से प्राप्त होता है।

4.1 शासन के प्रकार :–

कौटिलीय अर्थशास्त्र से राजतंत्र का ही प्रचलन अधिक दिखाई देता है। तत्कालीन परिस्थितियों में यही शासन व्यवस्था समीचीन लगती है। राजतंत्र का समर्थक होने के बावजूद शासन के अन्य प्रकारों का उल्लेख भी कौटिल्य ने किया है। हमें इस ग्रंथ से दो प्रकार के राज्यों का बोध होता है– द्वैराज्य व वैराज्य। द्वैराज्य से तात्पर्य दो शासकों के शासन से है। वैराज्य से तात्पर्य ऐसे विदेशी शासक से है जिसने विधि सम्मत राजा को सत्ताच्युत कर राज्य पर अधिकार कर लिया हो। इतिहासकार जायसवाल ने शासन के इस प्रकार को राजारहित बताया है। लेकिन उनका विचार अन्य इतिहासकारों द्वारा मान्य नहीं ठहराया गया। शासन के इन दो प्रकारों के अलावा कौटिल्य के 11वें अधिकरण में संघव्रत शीर्षक के अंतर्गत संघ राज्य का विवरण है। इसके मूल में कौटिल्य की यही भावना रही होगी कि विजिगीषु सम्राट अपने अधीन या प्रभाव वाले राज्यों कों अपनी संप्रभुता के अधीन किस प्रकार करे। संघ राज्यों के दो प्रकार बताए गए है–

(1) वार्ता शस्त्रोपजीवेन

(2) राज शब्दोपजीवेन

वार्ताशस्त्रोपजीवेन :–ऐसे संघ शासित राज्य थे जो शांतिकाल में कृषि, पशु–पालन अथवा व्यापार में संलग्न रहते थे, लेकिन आपातस्थिति में ये सुगमता से शस्त्र भी ग्रहण कर लेते थे।

राजशब्दोपजीवेन :–ऐसे संघ शासित राज्य होते थे जिनका शासन संचालन शासकों की एक समिति करती थी। समिति के ये शासक राजा नाम से जाने जाते थे। इनका प्रमुख संभवत: एक

ही व्यक्ति होता था। इस पद तक पहुंचने की क्या प्रक्रिया थी, इस बारे में अर्थशास्त्र में विवरण उपलब्ध नहीं है। इन संघ राज्यों को आधुनिक कुलीनतंत्रीय राज्यों की संज्ञा दी जा सकती है।

4.2 दण्डनीति –

अर्थशास्त्र में दण्डनीति को उच्च स्थान प्रदान किया गया है। आन्वीक्षिकी त्रयी (तीन वेद–साम, ॠक, यजु), वार्ता (अर्थ सम्बन्धी), दण्डनीति ये चार विद्याऐं मानी गयी है। कौटिल्य के अनुसार सांख्य, योग और लोकायत (नास्तिक दर्शन) ये आन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत है। इसी प्रकार त्रयी में धर्म–अधर्म का, वार्ता में अर्थ–अनर्थ का और दण्डनीति में सुशासन–दु:शासन का ज्ञान प्रतिपादित है। त्रयी आदि विद्याओं की प्रधानता–अप्रधानता (बलाबल) को भिन्न–भिन्न युक्तियों से निर्धारित करती हुई आन्वीक्षकी विद्या लोक का उपचार करती है, सुख–दुख सें बुद्धि को स्थिर रखती है, और सोचने, विचारने, बोलने तथा कार्य करने में सक्षम बनाती है। कृषि, पशुपालन, व्यापार को वार्ता विद्या के विषय माना गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार यह विद्या धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थ और नौकर–चाकर आदि को देने वाली परम उपकारिणी है। इसी विद्या से उपार्जित कोष और सेना के बल पर राजा स्वपक्ष तथा परपक्ष को वश में कर लेता है।

(कृषि पाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता।

धान्य–पशु–हिरण्य कुप्य विष्टिप्रदानादौपकारिकी।

तथा स्वपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्।)

प्रथम तीन विद्याओं की सुख–समृद्धि दण्डनीति पर ही निर्भर करती है। दण्डनीति का सम्बन्ध चार बातों से माना गया है ' 'अलब्धलाभार्थ, लब्ध परिरक्षण, रक्षित विवर्धिनी और वृद्धेष्य तीर्थेषु "(जो प्राप्त नहीं हुआ उसे प्राप्त करना, जो प्राप्त हो गया है उसका परिरक्षण करना, परिरक्षण किया है उसकी वृद्धि करना और जिसकी इस प्रकार से वृद्धि की गयी है, उसे योग्यता के अनुसार वितरित करना।) कौटिल्य "वर्णाश्रम व्यवस्था" को भी बनाए रखने कें पक्ष में थे। चारों वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) के व्यक्तियों की सुरक्षा दण्ड द्वारा ही समुचित से हो सकती है। कौटिल्य दण्ड व्यवस्था का संतुलित रूप प्रस्तुत करते है। कौटिल्य के अनुसार कठोर दण्ड देने से सभी प्राणी उद्विग्न हो जाते है और नरम दण्ड देने सें प्रजा तिरस्कार करने लग जाती है, अतएव दण्ड का संतुलित होना आवश्यक है। दण्ड सें सुरक्षित होकर सभी प्राणी अपने अपने कर्त्तव्यों में रत रहते है।

4.3 सपतांग राज्य की अवधारणा:–

प्राचीन काल में राज्य के अंगों के विषय में वैदिक वाङ्गमय से हमें कोई उल्लेख नहीं मिलता है किंतु जब ई.पू. चौथी सदी में राजनीतिक विचारों का विकास होने लगा तब से इस विषय पर पर्याप्त चर्चा मिलती है। राज्य की सर्वप्रथम संपूर्ण परिभाषा कौटिल्य के युग में उपलब्ध होती है। कौटिल्य ने इन्हें सात प्रकृति या अंग कहा है। राजनीतिक दृष्टि से कौटिल्य का यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कौटिल्य ही ऐसा प्रथम भारतीय चिन्तक है जो राज्य

को सात अंगों से युक्त बताता है। कालान्तर में अन्य विचारकी ने भी कौटिल्य के इस सिद्धान्त को मान्यता दी। प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य के बहुत से ग्रंथों में इसकी विवेचना मिलती है जैसे– महाभारत के शांतिपर्व, मनुस्मृति याज्ञवल्क्य–स्मृति, विष्णु धर्मोत्तर पुराण आदि। कहीं कहीं पर इनके नामों में परिवर्तन अवश्य दिखाई देता है। महाभारत के शांतिपर्व में अष्टांगिक राज्य का विवरण मिलता है परन्तु शांतिपर्व में आठवें अंग का उल्लेख कहीं भी नहीं हुआ है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र (6,1) में अधोलिखित सात अंगों–स्वामी, अमात्य, जनपद दुर्ग, कोष, दंड और मित्र का उल्लेख किया है। ये सात प्रकृतियां राज्य रूपी शरीर के अंग या अवयव है। कौटिल्य ने स्वामी को सर्वाधिक महत्व देते हुए (राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेम) पहली प्रकृति को हर बाद की प्रकृति की अपेक्षा अधिक महत्व ही माना है। उसने प्रकर्तियों के गुणों के साथ साथ उनके व्यसनों का भी उल्लेख किया है। सप्तांग राज्य के विभिन्न अंगों का विवरण इस प्रकार है–

स्वामी:– स्वामी से तात्पर्य राज्य के प्रधान से है। प्राचीन काल में राजतन्त्र या गणतन्त्र दोनों के प्रधानों को "राजा" की संज्ञा दी गयी है। सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में स्वामी का प्रमुख स्थान होता था। कौटिल्य के अनुसार स्वामी को आभिजात्य, प्रज्ञा, उत्साह तथा वैयक्तिक गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। उसका आभिजात्य वंश का होना भी आवश्यक था। स्पष्ट है कि राजा के पद पर कोई सामान्य व्यक्ति नहीं पहुंच सकता था।

अमात्य:– राज्य का द्वितीय अंग अथवा प्रकृति अमात्य है। यह राज्य के प्रशासनिक ढाँचे का प्रतीक है। इसके अन्तर्गत प्रधान पुरोहित, मंत्री समाहार्ता, कोषपाल, न्यायिक अधिकारी अन्तः पुर का प्रबन्ध करने वाला अधिकारी, विभिन्न विभागों के अधीक्षक आदि आते है। कौटिलीय अर्थ–शास्त्र में इनके बारे में विस्तृत विवेचन मिलता है। अर्थ–शास्त्र में "मंत्री " शब्द का प्रयोग भी हुआ है। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या मंत्री और अमात्य एक ही थे? मंत्री अमात्य से उच्च स्थिति वाले होते थे। मंत्रियों के चयन की विधि बड़ी जटिल थी। उन्हें चार प्रकार की परीक्षाओं–धर्मोपधा, भयोपधा, कामोपधा और अर्थोपधा में सफल होने पर ही मंत्री पद प्राप्त होता था। अमात्यों की नियुक्ति के संदर्भ में इतनी जटिलता नही दिखाई देती है। मंत्रियों व अमात्यों की संख्या में भी अन्तर होता था। मंत्री 3–4 ही नियुक्त होते थे जबकि अमात्यों की नियुक्ति राजा अपनी आवश्यकतानुसार कर सकता था। इनकी संख्या 30–40 तक भी हो सकती थी।

जनपद:– राज्य का तीसरा अंग जनपद माना गया है। इसमें जनसंख्या व भूमि दोनों का समावेश है। कौटिल्य कहते है कि राजा को अपने स्वदेश में अधिक जनसंख्या वाले भूभाग से या परदेश से लाकर लोगों को जनपद में बसाना चाहिए। राजा को कृषि हेतु शूद्र वर्ण के लोगों को बसाना चाहिए। राजा का यह भी कर्तव्य है कि वह गांवों में कम से कम 100 तथा अधिकतम 500 परिवारों को ही आवासित करे। कौटिल्य, अर्थशास्त्र में गांवों की इकाईयों के नाम भी मिलते है–

संग्रहण	–	100 गांवों की इकाई
खार्वटिक	–	200 गांवों की इकाई

द्रोणमुख	–	400 गांवों की इकाई
स्थानीय	–	800 गांवों की इकाई

दुर्ग :- अर्थशास्त्र के दुर्ग निवेश और दुर्गविधान नामक शीर्षक के अंतर्गत राजधानी की बसावट योजना, किलों के निर्माण तथा विभिन्न निर्मित दुर्गो का वर्णन किया गया है। दुर्गो का निर्माण राज्य की रक्षा के लिए किया जाता था। अर्थशास्त्र में दैवकृत दुर्ग, अन्तर्द्वीपीय दुर्ग, मरूस्थल दुर्ग अथवा वन दुर्ग का विवरण दिया गया है।

कोष :- राज्य व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए प्राचीन राजशास्त्रियों नें कोष को महत्व प्रदान किया है। कहा गया है कि राजा को कोष की वृद्धि करनी चाहिए। कोष से ही राजा बाह्य आक्रमणों से राज्य की सुरक्षा और प्रजापालन कर सकता था।

दण्ड :- दण्ड दो प्रकार का माना गया है– एक स्वराज में प्रजा के अपराधों के लिए दण्ड देने की शक्ति और दूसरा परराष्ट्र से युद्ध करने की बल सामर्थ्य। सेना में पुश्तैनी भाड़े पर रख गये वन और निगम के सैनिक आते है। इन्हें चार श्रेणियों मे बांटा गया है– पैदल, रथारोही, हस्ति सैनिक और अश्वारोही। कौटिल्य के अनुसार क्षत्रिय सेना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है लेकिन वैश्य व शुद्रों को भी इसमें नियुक्त किया जाता था। सैनिक वंशानुगत होते थे। राज्य की ओर से उन्हें अच्छा वेतन प्रदान किया जाता था।

मित्र :- यह राज्य का एक अतिरिक्त तत्व है जिससे राज्य के अन्तर्राज्यीय स्वरूप का बोध होता है। कौटिल्य के अनुसार मित्र बनावटी न हो वरन् वंशानुगत होना चाहिए जिससे वह विपत्ति में भी सहायता कर सके।

सात अंगों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कौटिल्य कहता है कि राज्य तभी सुचारू रूप से चल सकता है जब उसके सभी अंग पारस्परिक सहयोग व सद्भाव से रहते हो। राज्य के अंगों को प्रकृति या अवयव कहे जाने से प्राचीन भारत में राज्य के सावयव स्वरूप का बोध होता है। यह प्राचीन मनीषियों की उर्वरता का परिचायक है। आर एस. शर्मा के अनुसार राज्य के आधुनिक शरीर सिद्धान्त से इसके साम्य का कारण शायद यह है कि सभी युगों में शासक वर्ग की हित रक्षा के लिए राज्य के एकत्व पर जोर डालने के प्रयास किए गये है।

सप्तांग राज्य के विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीयों की राज्य की अवधारणा मात्र आदर्शवादी प्रस्थापनाओं पर आधारित नहीं थी। वरन् इसका व्यावहारिक आधार भी था। कौटिल्य की सप्तांग राज्य की अवधारणा राज्य सम्बन्धी आधुनिक संकल्पना से निकटत: तुलनीय है। इन सात अंगों में राज्य की आधुनिक परिभाषा में गेटेल आदि विद्वानों 'द्वारा निर्दिष्ट चारों तत्व–भूमि, जनसंख्या सरकार, सार्वभौमिक्ता समाविष्ट है। प्रभुसत्ता के अन्तर्गत स्वामी, कोष व दण्ड रखे जा सकते है। सरकार के अन्तर्गत अमात्य, भूमि और जनसंख्या के अन्तर्गत जनपद को रख सकते है। मित्र का होना राज्य के अन्तर्राज्यीय स्वरूप को स्पष्ट करता है। आर.एस. शर्मा ने कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य सम्बन्धी अवधारणा की तुलना एंगेल्य की परिभाषा से की है। यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन सभी विचारकों व दार्शनिकों की दृष्टि में सप्तांग राज्य की अवधारणा का सिद्धान्त उत्कृष्ट था जो प्राचीन भारत की परिस्थितियों के सर्वथा अनुरूप था।

4.4 राज्य की उत्पत्ति

प्राचीन काल में राजतन्त्र ही सर्वप्रमुख शासन प्रणाली थी। गणराज्यों का भी अस्तित्व था लेकिन कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजतंत्रीय व्यवस्था पर ही अधिक बल दिया गया है।

राज्य की उत्पत्ति के संदर्भ में स्पष्ट विवेचन तो कौटिल्य ने नहीं दिया है, फिर भी यंत्र–तंत्र जो उल्लेख हैं उनसे कौटिल्य के विचार सामाजिक अनुबंधवाद के सिद्धान्त के अधिक निकट लगते हैं। कौटिल्य कहते हैं, जब सामान्य जन मत्स्य न्याय (वह स्थिति जब बड़ी मछली छोटी मछली को खाने लगती है, अर्थात बलवान निर्बल को सताते हैं।) से दु:खी हो गये तब उन्होंने मनु को राजा बनाया और यह तय किया कि मनु उनको सुरक्षा प्रदान करेंगे और वे मनु को इसके बदले में अपने धान्य का 1/5 भाग तथा अपनी सम्पत्ति व सम्पदा का 1/10 भाग प्रदान करें। इस उद्धरण से राज्य की उत्पत्ति हेतु किसी समझौते का आभास होता है। लोगों ने अराजकता की स्थिति को समाप्त करने के लिए राज्य का निर्माण किया। राजा की नियुक्ति की गई जिसे कर देना पड़ता था। बदले में राजा उन्हें सुरक्षा प्रदान करता था और प्रजा के कल्याण हेतु कार्य करता था। कौटिल्य के सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त की तुलना हम हॉब्स व रूसो के सिद्धान्त से नहीं कर सकते।

4.5 राजा

प्राचीन काल में राजा राज्य का मुख्य स्तंभ था। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या पर विशेष बल दिया है। अन्य कर्मचारियों के लिए राजा एक आदर्श होता था। कौटिल्य कहते हैं कि राजा को रात और दिन के आठ–आठ भाग कर लेने चाहिए और तदानुसार अपनी दिनचर्या को व्यवस्थित कर लेना चाहिए। दिन के पहले भाग में राजा प्रजा की रक्षा के विधानों तथा राज्य की आय–व्यय का निरीक्षण करे। दूसरे में पुरवासियों और जनपदवासियों के अभियोग और व्यवहार (मुकदमे) सुने, तीसरे में स्नान, भोजन और स्वाध्याय करे, तथा चौथे में सुवर्ण–ग्रहण अर्थात् कर विभाग का निरीक्षण एवं अध्यक्षों की नियुक्ति आदि पर विचार करे। पांचवे भाग में मंत्रिपरिषद के साथ मन्त्रणा करे और गुप्तचरों से गुप्त बातों की जानकारी प्राप्त करे, छठे में अपनी इच्छानुसार विचार करे। सातवें में हाथी, घोड़े, रथ और शस्त्रों की देख रेख करे, और आठवें भाग में सेनापति के साथ सैनिक मामलों पर विचार विमर्श करे।

रात्रि के पहले भाग में राजा गुप्तचरों का निरीक्षण करे, दूसरे में स्नान भोजन और स्वाधयाय करे, तीसरे में रनिवास में प्रवेश करे, चौथे व पांचवे भाग में शयन करे। छठे भाग में संगीत से जागे तथा नीतिशस्त्र और दिन के आवश्यक कर्त्तव्यों का ध्यान कर ले। सातवें भाग में गुप्त मंत्रणा कर मुख्य पुरुषों को आवश्यकतानुसार भेज दे। आठवें में ऋत्विक् आचार्य आदि से आशीर्वाद ले व वैद्य, रसोइये, ज्योतिषी आदि से अपने शरीर के बारे में बात करे। प्रात: काल होने पर दरबार में प्रवेश करे।

यह विस्तृत कार्यक्रम राजा को बहुत व्यस्त रखता होगा। प्राचीन भारत के राज्य को अनुशासित रहना आवश्यक माना गया। समूर्ण व्यवस्था का वह व्यक्तिगत रूप से निरीक्षण करता था। उसका जीवन सुखोपभोग के लिए नहीं वरन् प्रजाहित चिंतन के लिए माना जाता था।

4.6 कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व –

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र से संबंधित क्षत से ग्रंथों में राजा के कर्त्तव्यों व उत्तरदायित्वों का विवरण मिलता है। अनेक ग्रंथों में तो पुनरूक्ति दोष भी आ गया है। लेकिन ये विचारक मुख्य–मुख्य बातों में प्राय: सहमत हैं। ऐसे कर्त्तव्यों की सूची में कहा जा सकता है कि राजा को वेद का अध्ययन करने वाला, आत्मसंयमी, वर्णव्यवस्था को अक्षुण्ण रखने वाला, वृद्ध सेवी, नीतिकुशल, राष्ट्र की सुरक्षा करने वाला आदि होना चाहिए।

कौटिल्य ने राजा को प्रजा के ' योग क्षेम " के लिए कार्य करने को कहा है। इससे तात्पर्य है कि राजा प्रजा को किसी उद्देश्य या वस्तु को प्राप्त कराए और उसका शांतिपूर्वक रंजन करे। कौटिल्य तो यहां तक कहते हैं कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है और प्रजा का जो हित अथवा लाभ है, वही राजा का भी लाभ है।

(प्रजोसुखे सुखं राज्ञ: प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हित राज्ञ: प्रजानां तु प्रियं हितम्।।
अधिकरण 1, 19 : 39)

राजा के प्रमुख कर्त्तव्य निम्न माने गए हैं–उद्योग करना, यज्ञ करना, दान देना, सारी प्रजा पर समान दृष्टि रखकर उसका पालन करना, शत्रु, मित्र, उदासीन की परख करके तद्नुकुल उनसे व्यवहार करना तथा योग्य व्यक्तियों को विभिन्न पदों पर नियुक्त करना, आदि राजा कें व्रत अथवा कर्त्तव्य माने गये हैं। राजा का यह भी प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि उसके प्रजाजन अपने–अपने वर्ण अथवा आश्रम के अनुरूप वेद विहित धर्म का पालन कर रहे हैं अथवा नही। प्राचीन भारतीय "धर्म" साम्प्रदायिक नहीं था। धर्म एक व्यवस्था का पर्याय था। तत्कालीन समाज को व्यवस्थित बनाए रखने और गतिशीलता प्रदान करने के लिए ही कौटिल्य ने 'वर्णाश्रम धर्म" का समर्थन किया था। कौटिल्य यहां तक कहते हैं कि राजा सभी धर्म के विनष्ट होने पर वर्ण व्यवस्था को स्थापित कर धर्म प्रवर्तक बने।

4.7 मंत्रिपरिषद

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से एक संपूर्ण प्रशासनिक अर्थव्यवस्था का ढांचा प्राप्त होता है। राजा की सहायता देने हेतु अनेक मंत्री, अमात्य, व अन्य उच्च अधिकारी होते थे। कौटिल्य ने इनकी विस्तृत विवेचना की है। राजा के समस्त कार्यों का शुभारम्भ तद्विषयक मन्त्रणा कर लेने के उपरांत ही होना चाहिए।

(मंत्रपूर्वा: सर्वारम्भा:) (अधिकरण 1, 15, 21)

मन्त्रणा गुप्त रखी जानी चाहिए। मन्त्रणा के गुप्त न रहने पर राज्य को हानि होती है। कौटिल्य ने तीन या चार मंत्रियों की मंत्रणा अच्छी मानी है। मंत्रियों की नियुक्ति बहुत कठिन परीक्षा के बाद की जाती थी। कौटिल्य कहते हैं कि अपने देश में जन्मे, कुलीन, उत्तम बंधु बांधवों से सम्पन्न, शिल्प विद्या में निपुण, विद्वान, कार्यकुशल, भाषा में निपुण, स्मृतिवान, शीघ्र प्रबन्ध करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेश सहने में समर्थ, दृढ़ राजभक्त, सुशील, बलवान, आरोग्य सम्पन्न, धर्मशाली, निरभिमानी, स्थिर स्वभाव, सौम्य, प्रियदर्शन तथा व्यर्थ में

किसी से वैर मोल न लेने वाले व्यक्ति को मंत्री बनाना चाहिए। स्पष्ट है कि मंत्री बनाने के लिए व्यक्ति में विशेष गुण होने चाहिए। अमात्य नियुक्त करने की शर्त इतनी विशिष्ट नही थी। मंत्रियों को तो धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा विधियों द्वारा जांच परख कर ही नियुक्त किया जाता था। कौटिल्य के अनुसार मंत्रियों को समुचित वेतन दिया जाना चाहिए जिससे वे आय के अन्य साधन न अपनाएं।

अर्थशास्त्र में प्रशासनिक अधिकारियों की एक विस्तृत सूची मिलती है। प्रमुख अधिकारी निम्न हैं–

मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज आदि

निम्न अमात्य प्रमुख थे–

दौवारिक	–	(राजमहल का संरक्षक)
अन्तर्वेशिक	–	(राजा का अंग रक्षक)
समाहार्ता	–	(कर इकट्ठा करने वाला)
सन्निधाता	–	(आय व्यय का ज्ञान रखने वाला)
प्रवेष्ठा	–	(मुख्य न्यायाधीश)
नायक	–	(सेना का मुख्य सेनापति)
कार्मानिक	–	(खानों की व्यवस्था करने वाला)
महामात्य	–	(मंत्रि परिषद का अध्यक्ष)
दुर्गपाल	–	(किलों का अधिकारी)
अन्तपाल	–	(सीमांत प्रदेशों की रक्षा करने कला अधिकारी)
आटविक	–	(जंगली जातियों की देखभाल करने वाला)

इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से अधिकारी अर्थशास्त्र में वर्णित हैं।

कौटिल्य की विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था में न्याय व्यवस्था का भी महत्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य ने न्याय प्रशासन को दो क्षेत्रों में विभाजित किया है– धर्मस्थीय (दीवानी) और कण्टकशोधन (फौजदारी)। अर्थशास्त्र के तीसरे व चतुर्थ अधिकरण में इनकी विस्तृत विवेचना की गई है। कण्टकशोधन में व्यवसायियों और राजकर्मचारियों द्वारा प्रजा का शोषण न हो, इस पर विशेष बल दिया गया है।

4.8 अन्तर्राज्य सम्बन्ध –

अर्थशास्त्र में राज्य द्वारा अन्य देशों से सम्बन्ध स्थापित करने के संदर्भ में भी विस्तृत विवेचना मिलती है। कौटिल्य ने षाडगुण्य शीर्षक के अंतर्गत वैदेशिक नीति की व्याख्या की है। षाडगुण्य को समझने से पहले मण्डल सिद्धांत को समझना होगा। कौटिल्य के अनुसार मंडल सिद्धान्त के अंतर्गत निम्न बारह राजा होते हैं।-

1. विजिगीषु (विजेता)
2. अरि–शत्रु (विजिघिषु का पड़ौसी)
3. विजिगीषु का मित्र (जिसकी सीमा अरि से लगती हो।)

4. अरि मित्र–शत्रु का मित्र (विजिगीषु का शत्रु)
5. मित्रामित्र (विजिगीषु के मित्र का मित्र)
6. अरिमित्रामित्र–शत्रु के मित्र का मित्र
7. पार्ष्णिग्राह–विजिगीषु के पृष्ठ भाग पर निर्वासित शत्रु
8. आक्रन्द्र–पृष्ठ भाग पर रहने वाले विजिगीषु का मित्र
9. पार्ष्णिग्राहासार–पार्ष्णिग्राह का मित्र जो आक्रन्द के पीछे स्थित हो
10. आक्रन्दसार–आक्रन्द का मित्र
11. मध्यम–वह राजा जिसकी सीमाएं विजिगीषु व अरि से लगती हों।
12. उदासीन–शत्रु, विजिगीषु व मध्यम की गतिविधियों से उदासीन शासक

कौटिल्य के छठे अधिकरण के अध्याय दो में इस सिद्धांत का निरुपण हुआ है। कौटिल्य ने विजिगीषु को विजय की अभिलाषा से सम्पन्न माना है। उसके चारों ओर वाले राजा "अरि प्रकृति" कहलाते हैं। अरिप्रकृति की सीमाओं पर लगे राजाओं को "मित्र प्रकृति" कहा गया है। विजिगीषु के सामने प्राय: मित्र, अरिमित्र, मित्रामित्र तथा अरिमित्रामित्र होते हैं। विजिगीषु कें पीछे पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार तथा आक्रन्दसार होते हैं। विजिगीषु राजा के आगे व पीछे के राजा मिलकर एक राजमण्डल बनाते हैं जिसकी संख्या बारह है। यह दो या उससे अधिक गुटों में विभाजित हो सकता है। इसमें एक गुट का नेतृत्व करने वाला संपूर्ण समूह' पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सक्षम रहता है।

अर्थशास्त्र में षाड्गुण्य सिद्धांत भी उल्लेखनीय है। कौटिल्य ने इसके अंतर्गत छ: गुण या नीतियां बनाई हैं–

1. संधि :– यह दो राज्यों के मध्य शांति के समय किया जाने वाला व्यवहार है।
2. विग्रह :– शत्रुता की स्थिति में शत्रु के साथ किया जाने वाला व्यवहार
3. आसन :– शांतिकाल अर्थात राज्य यह निश्चित करे कि वह किसी भी प्रकार का सैनिक अभियान प्रारम्भ नहीं करेगा।
4. यान :– यह राजा द्वारा सैनिक अभियान आरम्भ करने से सम्बन्धित नीति है।
5. सश्रय :– जब राजा किसी अन्य का आश्रय ग्रहण करे।
6. द्वैधीभाव :– एक साथ ही दो तरह की नीतियां अपनाना जैसे एक के साथ संधि व दूसरे के साथ विग्रह

षाड्गुण्य नीति पर विचार करने के पश्चात् कौटिल्य ने चार उपायों साम, दाम, भेद और दंड का विवेचन किया है। विजिगीषु द्वारा विजय प्राप्त करने के लिए नीति कें इन सभी उपायों का प्रयोग किया जा सकता है।

कौटिल्य ने दूत और गुप्तचरों का भी उल्लेख किया है। अंतर्राज्यीय सम्बन्धों में इनका प्रमुख स्थान रहता था। कौटिल्य ने राजा के लिए जो विभिन्न नीतियां बनाई हैं उनका महत्व राज्य विस्तार के लिए एवं अपने राज्य की शत्रु से रक्षा करने के लिए है। तत्कालीन परिस्थितियों में कौटिल्य के ये विचार प्रासंगिक व महत्वपूर्ण थे। उस समय तक साम्राज्यवादी भावना का विकास हो चुका था।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में कई स्थानों पर धर्म और राजनीति से संबंधित विचार व्यक्त किए गये हैं। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। कौटिल्य ने वैदिक ज्ञान व धर्म को प्रधानता दी है। सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद तीन वेदों के अलावा कौटिल्य ने अथर्ववेद व इतिहास को भी वेद माना है। कौटिल्य इनमें वर्णित " वर्णाश्रम व्यवस्था " का समर्थन करते हैं। राजा का यह भी कर्त्तव्य है कि वह इसकी पालना करवाए। कौटिल्य ने राजा को धर्म प्रवर्तक बताया है। जहां पर वर्णाश्रम व्यवस्था विनष्ट हो गयी हो उसे पुन: स्थापित किया जाय। कौटिल्य राजा को निर्देश देते हैं कि राजा को विजित किए गए प्रदेश में भी वहां के धार्मिक रीति–रिवाजों, त्यौहारों व विश्वासों 'के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए। लेकिन दूसरी ओर कौटिल्य ने पांचवे अधिकरण में राजा को निर्देश दिए हैं कि वह धार्मिक आधार पर भी लाभ उठा सकता है। राजा अपने राजनीतिक ध्येयों के लिए धर्म का सहारा ले सकता था। स्पष्ट है कि धर्म के प्रति कौटिल्य का दृष्टिकोण लौकिक था। कौटिल्य नें राज्य को धर्म से अधिक प्रधानता दी है। वह राजसत्ता को सुदृढ़ देखना चाहता था। राज्य कें हित के लिए राजा जनसाधारण के अज्ञान और अंधविश्वास से भी लाभ उठा सकता था। निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि कौटिल्य ने तत्कालीन परिस्थितियों में शासन तंत्र के कुशलता से संचालन हेतु इस ग्रंथ की रचना की। उसकी राजनीतिक अवधारणाओं का केन्द्र एक सुदृढ़ राजतन्त्र है जो लोक कल्याणकारी भावना से प्रेरित है। वह एक क्रान्तिकारी युगदृष्टा था जिसने अपनी राज्य सम्बन्धी अवधारणाओं (विशेषकर सप्तांग राज्य का सिद्धान्त) द्वारा अरस्तु को भी पीछे छोड़ दिया है।

5. इकाई सारांश :–

कौटिल्यीय अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन से संबंधित एक प्रमुख ग्रंथ है। यह भारतीय अर्थशास्त्र सम्बन्धी चिंतन परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। प्राचीन भारत में राज्यशास्त्र के लिए कई नामों का प्रचलन था– दण्डनीति, राजधर्म, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि। कौटिल्य को चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन माना गया है। उन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन संचालन के लिए इस ग्रंथ की रचना की। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य के स्वरूप, क्षेत्र, कर्त्तव्य आदि पर विचार किया गया है। राज्य के विस्तृत अधिकार क्षेत्र से स्पष्ट है कि राज्य पर बहुत से दायित्व थे। लोक कल्याण को ध्यान में रखा जाता था। अर्थशास्त्र में सप्तांग राज्य की अवधारणा का विवेचन हुआ है। प्राचीन राज्य के स्वरूप को समझने में सप्तांग राज्य की अवधारणा हमारी मदद करती है। प्राचीन भारतीय राजतन्त्र पर बहुत से सैद्धान्तिक व व्यावहारिक नियंत्रण विद्यमान थे। राजा पर धर्म, जनमत, मंत्रिपरिषद आदि का नियंत्रण होता था। अर्थशास्त्र में "विजिगीषु" राजा की विवेचना है। वह विदेशी राज्यों से भी सम्बन्ध स्थापित करता था। कौटिल्य के मंडल सिद्धान्त व षाडगुण्य नीति इसी से सम्बन्धित है। कौटिल्य राज्य को एक शक्तिशाली लोककल्याणकारी संस्था के रूप में देखते थे। उनके राजनीतिक विचार व अवधारणाएं तत्कालीन परिस्थितियों के सर्वथा अनुरूप थी।

6. अभ्यास प्रश्न

प्रश्न– 1 : कौटिल्य के राजनीतिक विचारों पर संक्षिप्त लेख लिखिए।

प्रश्न– 2 : क्या आप इस मत से सहमत हैं कि प्राचीन भारतीय राजतंत्र का स्वरूप लोक कल्याणकारी था?

प्रश्न– 3 : कौटिल्य की सप्तांग राज्य की अवधारणा की विवेचना कीजिए।

प्रश्न– 4 : मण्डल सिद्धान्त तथा षाडगुण्य नीति से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

7. संदर्भ ग्रंथ

1. अर्थशास्त्र, कौटिल्य कृत, वाचस्पति गैरोला
2. अल्तेकर, अ.स. प्राचीन भारतीय शासन एवं राजनीति
3. जायसवाल, के. पी. हिन्दू पॉलिटी
4. बेनीप्रसाद, थ्योरी ऑफ गवर्नमेन्ट इन एंशियन्ट इण्डिया
5. शर्मा, आर. एस. आस्पैक्टस आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्सटीट्यूशन्स इन एंशियन्ट इण्डिया।
6. शर्मा, कमलेश, प्राचीन भारत में राज्य व विधि
7. पी. एल. गौतम व कमलेश शर्मा, प्राचीन भारत

इकाई–7

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की प्रकृति

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. सामान्य विशेषताएं
4. प्रतिनिधि वैचारिक संदर्भ
    4.1 सन्त अगस्तीन
    4.2 जॉन ऑफ सैलिस्बरी
    4.3 दांते का राजनीतिक दर्शन
    4.4 मार्सिलियो ऑफ पदुआ तथा विलियम ऑफ ओखम
5. निष्कर्ष
6. संदर्भ ग्रंथ
7. अभ्यास प्रश्न

1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है-

(1) मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की विशेषताओं का बोध;

(2) संत अगस्तीन, दांते, मार्सिलियो, विलियम सरीखे विचारकों के वैचारिक संदर्भों से परिचय; तथा

(3) मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की उपादेयता का प्रतिपादन।

2. प्रस्तावना :

पूरे मध्य युग को दो कालों में विभक्त किया जा सकता है, पहले कों स्वर्णिम युग कहा जा सकता है जिसमे चर्च पूर्णत: विजेता और पोप पूर्णत: सत्ताधारी था, और जो अष्टम बोनिफेस के साथ समाप्त होता है। दूसरा काल 14वीं और 15वीं शताब्दियों का वह कलहपूर्ण युग है जिसमें चर्च पर हर ओर से आक्रमण किये जानें लगे।

3. सामान्य विशेषताएं

इस विभाजन के बावजूद समग्र मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की कुछ सामान्य विशेषताएं हैं। उसकी पहली विशेषता है **सार्वभौमिकता**। मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन केवल एक सार्वभौम समाज की परिकल्पना करता है जो अपने लौकिक पक्ष में प्राचीन रोमन साम्राज्य की विरासत और उसी का निर्वाहक है, और अपने धार्मिक पक्ष में, दृश्य चर्च में ईसा का अवतरण है। इसी प्रकार वह समाज साम्राज्य भी है और चर्च भी। उसके एक पक्ष में यदि लौकिक प्रबन्ध के लिये सम्राट है तो दूसरे पक्ष में अलौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पोप है।

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की दूसरी विशेषता इन दोनों के पक्षों के सम्बन्ध में **सामन्तवाद** को व्यक्त करती है। लौकिक तथा अलौकिक दोनों पक्षों के दो, अलग–अलग शासक हैं और दोनों के अलग–अलग क्षेत्र हैं। सीजर की वस्तुएं सीजर के अधीनस्थ और पीटर की वस्तुएं पीटर के अधीन रख दी गई है।

सार्वभौमिकता और समानान्तरवाद की यह मिश्रित योजना कालान्तर में बर्बर जातियों के आक्रमण सें बिगड़ी अवश्य तथापि, समग्र मध्ययुग को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस युग में दो समाजों की नही, वरन् एक ही समाज की दो सरकारों की परिकल्पना का है। मध्ययुगीन समाज एक ईसाई गणतंत्र (Singe Republic Christiana) है जहां चर्च की सदस्यता और नागरिकता का सहअस्तित्व सम्भव है।

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की तीसरी विशेषता **विधि सम्बन्धी विचार** को व्यक्त करती है। चर्च ने दैवी विधि का प्राकृतिक विधि कें साथ तादात्म्य स्थापित किया किन्तु ऐसी में इस विधि को, जों एक ही साथ देवी और प्राकृतिक मानी गई, लौकिक जगत में मानव जीवन और मानव–सम्बन्धों पर लागू करना असम्भव था। कारण यह था कि प्राकृतिक विधि सम्बन्धी पहले के विचारों के अनुसार, अपने शुद्ध रूप में प्राकृतिक विधि जहां भी क्रियान्वित होनी है वहां कोई सरकार नही हो सकती क्योंकि शुद्ध प्राकृतिक विधि सभी व्यक्तियों को समान और स्वतंत्र मानती है जबकि सरकार का विचार एक प्रकार का बन्धन व्यक्त करनें के अतिरिक्त कुछ को शासक और कुछ को शासित के रूप में बांट देता है। उसी प्रकार शुद्ध. प्राकृतिक विधि के अन्तर्गत न दास प्रथा हो सकती है और न निजी सम्पत्ति की संस्था क्योंकि वहां सभी व्यक्ति स्वतंत्र और समान है और सभी वस्तुओं पर उनका सामूहिक स्वामित्व होता है। किन्तु यथार्थ जगत में शासन दासता और निजी सम्पत्ति की ये तीनों संस्थाएं विद्‌यमान थी। अत: चर्च के सम्मुख यह कठिनाई थी कि वह किस प्रकार दैवी प्राकृतिक विधि को यथार्थ, लौकिक जगत में प्रचलित मानव–सम्बन्धों पर लागू करे। यथार्थ जगत की इन परिस्थितियो से सामंजस्य स्थापित करने के विचार से चर्च नें निरपेक्ष प्राकृतिक विधि और सापेक्ष प्राकृतिक विधि के बीच अन्तर स्पष्ट किया। चर्च के अनुसार निरपेक्ष प्राकृतिक विधि मनुष्य के महापतन के पूर्व लागू होने वाली विधि है, जबकि सापेक्ष प्राकृतिक विधि उसके बाद महापतन के बाद की स्थिति से सम्बन्धित है। इस प्रकार सापेक्ष प्राकृतिक विधि के विचार ने मनुष्य के पतन से संयुक्त उसके महापाप को अपने परिवेश में समायोजित किया। सापेक्ष प्राकृतिक विधि मनुष्य कें महापाप का दण्ड और उसका निदान दोनों बन गई – दण्ड इस अर्थ में कि उसने पापमय मानव–जीवन में शासन, दास प्रथा और निजी सम्पत्ति की बाध्यताएं प्रेषित की, और निदान इस अर्थ में कि इन संस्थाओं द्‌वारा उसने मनुष्य को पापमयता की संशुद्धि के साधन प्रदान किये।

इस प्रकार चर्च ने बहुत कुछ खोया, और फिर भी उसने बहुत कुछ पाया। निरपेक्ष प्राकृतिक विधि की विशेषताओं को त्यागने के फलस्वरूप उसे स्वतंत्रता, समता और साम्यवाद के चरम मापदण्ड कों गंवाना पड़ा, पर बदले में उसे समस्त ईसाई समाज पर शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ, क्योंकि इस दैवी सापेक्ष प्राकृतिक विधि का संरक्षक स्वयं चर्च हुआ।

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की चौथी विशेषता **विधि की संप्रभुता** सम्बन्धी विचार को लेकर है। जिस हद तक यह विधि दैवी थी, उस हद तक वह ईश्वर की बुलन्द आवाज मानी गई, और जिस हद तक वह प्राकृतिक थी, उस हद तक वह मनुष्य में विद्‌यमान विवेक की अपरिहार्य परिणाम मानी गई। दोनों दशाओं में विधि का सार्वभौम और चिरन्तन होना सिद्ध होना है। अतः यह विचार प्रतिपादित हुआ कि राज्य निर्मित जो भी विधि इस दैवी–प्राकृतिक विधि के विरुद्ध हो वह स्वतः रद्द मान ली जाएगी। इस प्रकार, इस विधि ने राज्यओं और व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों पर सीमा लगाई। इस विधि का संरक्षक चर्च था।

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की पांचवी विशेषता **राजतंत्र के विचार के संबंध में** है। ईश्वर द्‌वारा स्थापित होने के कारण तथा अभिषेक एवं शपथ के अनुष्ठानों के, फलस्वरूप राजतंत्र शासन का दैवी अधिकार प्राप्त करता है। किन्तु साथ ही साथ, उसका अधिकार–क्षेत्र इसलिये सीमित है कि वह दैवी अधिकार है, सभी दैवी वस्तुओं का संरक्षक चर्च है।

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की छठी विशेषता यह है कि राजतन्त्र के विचार के साथ ही साथ उसने जनतांत्रिक शासन कें विचारों को, भी पोषित किया। प्रारम्भ से ही यह विचार प्रचलित था कि राजा अपनी जनता के साथ एक प्रकार के समझौते सें बंधा होता है। मध्य युग के धर्म मठाधीशों ने इस विचार को अपनाया क्योंकि यह विचार उनके हित में था। उन्होंने देखा कि जनता द्‌वारा राजतन्त्र को सीमित रखने का विचार चर्च द्‌वारा राजतन्त्र को सीमित रखने के विचार में सशक्त युक्ति सिद्ध होगा। अतः मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन में सीमित राजतन्त्र का विचार पनपा। राजा की शक्तियां चर्च प्राकृतिक विधि तथा जनता द्‌वारा सीमित मानी गई। फलस्वरूप मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन में राज्य की संप्रभु शक्ति के सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त प्रतिपादित करने या उसका विश्लेषण करने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ यद्‌यपि संप्रभु शक्ति की सीमाओं के विषय में विशद विवरण दिये गये।

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की एक अन्य विशेषता चर्चा और राज्य कें बीच विरोध के सम्बन्ध में स्पष्ट होंती है। दोनों पक्षों कें हिमायती एक ही प्रकार के तर्कों द्‌वारा एक संस्था की दूसरी संस्था पर श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहें। इन तर्कों को कुछ वर्गों में बांटा जा सकता है, यथा, धर्म ग्रन्थों कें उद्धरण, वैधिक तर्क, तथा ऐतिहासिक तर्क।

चर्च के हिमायतियों ने धर्म ग्रन्थों से लिये गये उद्धरणों के आधार पर एक यह तर्क प्रस्तुत किया कि लौकिक वस्तुओं का उद्देश्य शरीर की रक्षा करना है और शरीर आत्मा के अधीन है। आत्मा पोप के निर्देशन कें अधीन है क्योंकि पोप धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। दूसरे, ईश्वर नें प्रत्यक्ष रूप से चर्च को यह शक्ति प्रदान की है कि वह लौकिक शासकों के इरादों का निरीक्षण करें और आवश्यकतानुसार उन पर अंकुश रखें। सभी मनुष्यों की भांति सम्राट के जीवन का भी मूल्यांकन पोप ही करेगा जिसका पद संसार में ईश्वर का सिंहासन है तथा जिसके द्‌वारा ईश्वर अपना फैसला देता है। पोप की प्रतिभा के सम्मुख सम्राट की प्रतिभा उसी प्रकार की है जिस प्रकार सोने की चमक के आगे शीशे की चमक। चर्च के इन हिमायतियों ने धर्म ग्रंथ से उद्धरण देते हुए यह सिद्ध करना चाहा कि स्वयं ईश्वर ने पैगम्बर को यह आदेश दिया कि "See, I have to this day set thee over the nations and over the

kingdoms, to root out, to pull down, and to destroy, to throw down, to build, and to plant," ईसा ने भी पीटर से कहा था कि " feed my sheep".

वैधिक तर्क प्रस्तुत करते हुए चर्च के हिमायतियों ने, यह सिद्ध करना चाहा कि यदि समाज में कोई एक ही राज्य होता है तो वह चर्च के अतिरिक्त अन्य कोई नही हो सकता क्योंकि चर्च को स्वयं ईश्वर ने स्थापित किया है। सभी प्रकार के लौकिक प्रभुत्व तभी तक वैध है जब तक कि वे चर्च के अंग हैं। इस राज्य के अध्यक्ष ईसा हैं। किन्तु चूंकि इस लौकिक जगत में भी मानव–जाति की एकता की उपलब्धि करनी है, इसलिए ईसा के अलौकिक राजतन्त्र का लौकिक प्रतिनिधित्व होना भी आवश्यक है। अत: चर्च का लौकिक अध्यक्ष ईसा का प्रतिनिधि है। पोप मानव–जाति का पुरोहित भी है और उसका शासक भी; उसका विधायक भी है और निर्णायक भी। फिर भी, इस धार्मिक सत्ता के केवल श्रेष्ठतम भाग ही पोप कें लिये सुरक्षित है और उसको निरन्तर शक्ति कें अर्थात् वह शक्ति जिसका सम्बन्ध सांसारिक बातों सें है, उपयोग के लिये निम्न स्तर की संस्था की आवश्यकता है। इसके लिए ईश्वर ने लौकिक राज्य की स्थापना का संकल्प किया। तदापि राज्य की उत्पत्ति लौकिक होने के कारण, उसे दैवी अनुमोदन केवल चर्च की मध्यस्थता से ही प्राप्त होता है जिसकी उत्पत्ति दैवी है। चर्च के बाहर राज्य का अस्तित्व मनुष्य के पतन से अनुप्राणित मानव–प्रकृति की उपज है। अपने अस्तित्व का दैवी अनुमोदन प्राप्त करनें के लिये यह आवश्यक है कि वह चर्च की महिमा कें परिवेश में रहे। अत: चर्च से ही लौकिक सत्ता अपना सच्चा अस्तित्व ग्रहण करती है। शासक को शासन का अधिकार ईश्वर से परोक्ष रूप में ही मिलता है; प्रत्यक्षत: यह अधिकार उसे चर्च से शान होता है। लौकिक पर पारलोकिक शक्ति की प्रतीक स्वरूप दोनों तलवारें ईश्वर नें पीटर को दी, और पीटर से वे तलवारें पोप को मिली जो पारलौकिक शक्ति की प्रतीक स्वरूप तलवार अपने पास रख कर लौकिक शक्ति की प्रतीक स्वरूप तलवार लौकिक शासक को देता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उस तलवार पर लौकिक शासन का स्वामित्व हो गया, क्योंकि दोनों तलवारों का स्वामित्व तो पोप का है। इसलिये यदि लौकिक शासक अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करता है तो साम्राज्य के संरक्षण का दायित्व तत्क्षण चर्च का हों जाता है।

चर्च कें पक्षपोषण में उसके हिमायतियों नें कुछ ऐतिहासिक तर्क भी प्रस्तुत कियें जिसमें से सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह था कि ऐतिहासिक दृष्टि से धार्मिक संस्था राज्य से अधिक पुरानी है, अत: धार्मिक सत्ता राजनीतिक संस्था से पहले आती है।

राज्य के हिमायतियों ने शासक कें दैवी अधिकार का तर्क प्रस्तुत किया। उनके अनुसार शासक अपने कार्यो के लिए ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। इस बात को स्वीकार करते हुए कि शासक कों न्यायपूर्ण ढंग से शासन करना चाहिए और उसे चर्च, अन्य संस्थाओं को तथा जनता कें हितों की रक्षा करना चाहिए, उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि शासक कें ऐसा न कर सकने पर भी पद और अधिकार में कोई कमी नहीं की जा सकती। शासक अच्छा हो या बुरा, वह दैवी उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। उसकी सदस्यता ईश्वर की कृपा का घोतक है, और उसकी कूरता ईश्वर के क्रोध को अभिव्यक्त करती है। सभी का यह परम कर्त्तव्य है कि शासक के आदेशों

का पूर्णत: पालन करें। क्योंकि "The powers that are ordained by God, whosoever therefore resisteth the power resisteth the ordinance of god"

दो तलवारों वाले तर्क का उल्लेख करते हुए राज्य के पक्ष–पोषकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि दो अलग–अलग सत्ताओं की प्रतीकस्वरूप इन दो तलवारों के आधार पर स्वयं ईश्वर ने ही दो अलग–अलग क्षेत्र स्थापित किये, हैं। इसलिये धार्मिक–सत्ता केवल धार्मिक विषयों के क्षेत्र तक ही सीमित रहनी चाहिए। यदि लौकिक क्षेत्र में किसी कला शासक का स्थान रिक्त हो जाय तो पोप को चाहिए कि वह राज्य के क्षेत्र के दायित्व को समाज के हित की दृष्टि से स्वयं अपना ले, उसी प्रकार यदि किसी कारण से चर्च में पोप का पद रिक्त हो जाय तो शासक उस दायित्व को अपना ले। साथ ही, जिस प्रकार पारलौकिक विषयों में राज्य चर्च के अधीन हों, उसी प्रकार लौकिक विषयों में भी चर्च को राज्य के अधीन होना होगा।

राज्य के पक्ष में सर्वाधिक सहायता रोमन विधि के अध्ययन के पुन: प्रचलन से प्राप्त हुई। लोग वधिक और राजनीतिक अधिकारों के सिद्धान्तों के बारे में सोचने लगे। पुराना सिद्धान्त जिसके अनुसार शासक जो भी संकल्प करता है, उस संकल्प के पीछे विधि की शक्ति है कों फिर से प्रचलित किया गया और उसके आधार पर पोप के दावों को काटने का प्रयत्न किया गया। रोमन विधि के आधार पर यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि समस्त सभ्य समाज पर शासक की ही सत्ता स्थापित है।

4. प्रतिनिधि वैचारिक संदर्भ

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की उपर्युक्त विशेषताओं तथा चर्च–राज्य संबंधी विवाद के संदर्भ में सन्त अगस्तीन, जॉन ऑफ सैलिस्बरी, दांते और मार्सिलियो आफ पदुआ कें राजनीतिक विचारों का विश्लेषण किया जाएगा।

4.1 संत अगस्तीन

सन्त अगस्तीन का युग वह युग था जब पश्चिमी यूरोप रोमन साम्राज्य कें संरक्षण सें निकल कर मध्ययुगीन. ईसाई जगत की अव्यवस्थित स्वतन्त्रता अपनाने की और बढ़ रहा था। संक्रान्ति के इस युग में सभ्यता और कैथोलिक धर्म दोनों के लिये खतरा दिखाई दिया। एक महान रोम और एक महान् ईसाई दोनों होने के नाते अगस्तीन ने वर्तमान संकट का अर्थ अपनें समय कें लोगों कें लिये स्पष्ट करने के दायित्व कों स्वीकारा।

प्रारम्भ से ही चर्च पर रोम साम्राज्य का आधिपत्य रहा। स्वयं ईसा रोम वासी थे; रोमन विधि की सीमाओं के अन्दर उन्होंने जीवन बिताया था और साम्राज्य के अधिकारी के हाथों मृत्यु–दण्ड भी पाया था। तदापि बाद में, लौकिक शासकों की सरकारों ने ईसाई समाज के, प्रति शत्रुता का भाव घोषित करना आरम्भ किया। इन शासकों नें यह विचार व्यक्त किया कि अगस्तीन की शासन कला से स्थापित साम्राज्य और सन्त पॉल की प्रतिभा सें विकसित चर्च साथ–साथ नहीं रह सकते। फलत: पेगन राज्य ने चर्च को विध्वंस करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगाई। परन्तु इस कार्य में राज्य असफल रहा और इसकी इस सफलता के परिणामस्वरूप दियोकनीशियन का पद–त्याग करने और उनके उत्तराधिकारी कान्स्तेन्ताइन का

ईसाई धर्म स्वीकार करने की घटनाएं घटी। चर्च और साम्राज्य पुन: मिल गए और इस प्रकार ईसाई गणतन्त्र (Republica Christiana) की स्थापना हुई।

किन्तु ईसाई धर्म के अपनाने के बहुत शीघ्र बाद ही साम्राज्य कमजोर होने लगा। बर्बर जातियों के आक्रमणों के खतरे नित्य प्रति बढ़ते गए। डैन्यूब और राईन नदियों को पार कर ये बर्बर जातियां रोम सभ्यता के. विनाश के लिए आगे बढ़नी गई, और 410 ई. में रोम नगर लूटा गया। इस घटना से पैगन और ईसाई दोनों स्तम्भित हों गए। पुराने धर्म के मतावलम्बियों ने यह नारा बुलन्द किया कि रोम का विनाश ईसाई काल में हुआ। ईसाई धर्म मतावलम्बियों ने यद्यपि इस कलंक को अस्वीकार करने की चेष्टा की तथापि उन्हें यह अनुभव हुआ कि जो साम्राज्य स्वयं अपनी रक्षा नही कर सका वह भला ईसाई धर्म की क्या रक्षा कर पाएगा।

सन्त अगस्तीन नें पैगनों का क्रन्दन और ईसाइयों का भय दोनों ही अनुभव किए, और इस घटना के निहितार्थ को स्पष्ट करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने लौकिक विषयों की व्याख्या ईश्वर के शाश्वत संकल्प के संदर्भ में करने का प्रयत्न किया। उनके द्वारा मानव जाति का इतिहास देश–काल के आयाम में सृष्ट कें चिरन्तन उद्देश्य की अभिव्यक्ति का साधन बना। सृष्टि के आदि से लेकर अन्तिम निर्णय के दिन तक के इस काल में दो समाजों का इतिहास प्रशस्त है, दैवी नगर। जिसका निर्माण देवताओं की सृष्टि के साथ होता है, तथा लौकिक नगर जो शैतान के पतन के साथ प्रारम्भ होता है। इस प्रकार मनुष्य दो नगरों का नागरिक है–लौकिक नगर जिसमें उसका जन्म हुआ है, और दैवी नगर। मनुष्य की प्रकृति दुहरी है–वह आत्मा भी है और शरीर भी। इसलिये मानवीय हित दो भागों में विभक्त है–लौकिक हित जिनका सम्बन्ध उसके शरीर से है, और अलौकिक हित जो उसकी आत्मा से सम्बन्धित है। पहले हितों की पूर्ति के लिये एक ओंर अलौकिक राज्य है जिसकी नींव मानव प्रकृति की निरन्तर प्रवृत्तियों, यथा उसकी वासनात्मक एवं स्वत्वात्मक प्रवृत्तियों पर है जबकि दूसरे प्रकार के हितों की पूर्ति कें लिये दूसरी ओर दैवी नगर है जिसकी नींव स्वर्गिक शान्ति और पारलौकिक मोक्ष की आशा पर है। पहला नगर शैतान का राज्य है जों' असीरिया और रोम के पैगन साम्राज्यों में मूर्त हुआ है। दूसरा नगर ईसा का राज्य है जों इब्रानी राष्ट्र में और बाद में चर्च में मूर्त हुआ है। मानव इतिहास इन दोंनों समाजों के संघर्ष और अन्तत दैवी नगर की विजय की कहानी है।

रोमन साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में अगस्तिन की यही व्याख्या है : सभी लौकिक राज्यों कों एक न एक दिन नष्ट होना होगा क्योंकि सभी लौकिक शक्ति नाशवान है। मनुष्य के लिये मोक्ष की योजना चर्च की वास्तविकता पर आधारित है जिसके द्वारा मानव इतिहास में भगवन–कृपा व्यक्त हों पाती है। इस योजना के अन्तर्गत राज्य कों आवश्यक रूप में ईसाई राज्य होना पड़ेगा क्योंकि चर्च सें राज्य अपने सम्बन्ध स्थापित कर ही न्यायार्ण हो सकता है। राज्य एक बाह्य व्यवस्था है। जिस शान्ति की वह स्थापना करता है वह शान्ति बाह्य शान्ति है–प्रकट हिसा को कम करके लाई गई शान्ति। इसलिये राज्य बल पर आधारित संस्था भी है इसके पास कोई ऐसे साधन नहीं हैं जिनसे वह नागरिकों के विचारों और संकल्पों को बदल सके। न ही इस कार्य में उसकी रुचि है। राज्य मनुष्यों को अच्छा बनाने का संकल्प नही रखता

है ; वह केवल उनकी बाल क्रियाओं पर ही निगरानी रखता है। वह अप्राकृतिक, उपचारी संस्था है। मनुष्य के महागप का वह दण्ड भी है और उसकी पापमय स्थिति का निदान भी। दैवी नगर से यह सर्वदा भिन्न है क्योंकि दैवी नगर बल–आधारित नहीं वरन प्रेम की सहज व्यवस्था है। फिर भी, राज्य तथा बल–प्रयोग कें उसके सभी उपादान ईश्वर प्रदत्त हैं। राज्य मनुष्य को ईश्वर की देन है। शासक को सत्ता ईश्वर से प्राप्त होती है; इसलिए किसी भी नागरिक को, शासक कें आदेशों का उल्लंघन करने का अधिकार नही है। तथापि इसी संदर्भ में अगस्तीन एक अपवाद मानने हैं; ईसाई धर्म मतावलम्बी व्यक्ति शासक के ऐसे आदेश को मानने से इन्कार कर सकना है जो ईश्वर के आदेश के विरुद्ध हो। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसी दशा में शासक उसे दण्ड नहीं दे सकता।

4.2 जीन ऑफ सैलिस्बरी

सन्त अगस्तीन और जॉन ऑफ सैलिस्बरी के बीच लगभग 8 शताब्दियों का अन्तर है। संत अगस्तिन दो जगके कें परिवेश में स्थित है; और खत्म होते हुए श्रेण्य जगत तथा प्रारम्भ होते हुए ईसाई जगत की संक्रांति का प्रतिनिधित्व करते हैं। जॉन मध्ययुगीन ईसाई राज्यतंत्र तथा मध्ययुग के उस काल के प्रतिनिधि हैं जिसे अपने पर पूरा विश्वास है। रोम साम्राज्य के ध्वंसावशेषों से नये राज्य उदित हुए और हर दिशा में समृद्ध नया सुखी जीवन की उपलब्धि की आशाएं दिख रही थी चाहे वह सुधरा हुआ सशक्त चर्च हो, या विश्वविद्यालय हो जहां धर्म ग्रन्थों के अध्ययन का आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था, या नार्मन राज्य हों जहां शान्तिमय एवं व्यवस्थित संस्थाएं जन्म ले रही थी, या फिर लन्वार्डी के कम्यून हो जो एक बार फिर से नगर–राज्य की कौतूहलप्रद चेतना का अनुभव कर रहे थे।

अत: यह वह युग था जब यूरोपीय समाज के सदस्य एक सामूहिक विश्वास और मन में परस्पर मिले, समरूपी संस्थाओं सें पोषित, और विद्वता तथा पांडित्य से प्रभावित होकर एक हों रहे थे। जॉन इसी युग के प्रतिनिधि हैं।

सन्त अगस्तिन की भांति जॉन भी राज्य को, चर्च की परिचारक मानते है। तथापि इस निष्कर्ष तक पहुंचने में दोनों के ढंग अलग–अलग हैं। अगस्तीन के अनुसार शान्ति की स्थापना करना राज्य का कार्य है ताकि अलौकिक सत्ता समाज में न्याय ला सकें जिसे लौकिक सत्ता अपने आप नहीं बरत सकती। शान्ति की स्थापना कें इस सीमित कार्य कें बजाय जॉन राज्य का उद्देश्य "जीवन की सुरक्षा " करना बताते हैं। उनके अनुसार ' 'जीवन की सुरक्षा " में सत्य का दर्शन और सद्गुण का प्रयोग भी सम्मिलित है। राज्य इस नैतिक उद्देश्य की पूर्ति तभी कर सकता है जब वह उच्चतम साम्य (Equity) की भावना सें अनुप्राणित हो और इस उपलब्धि की कुंजी लौकिक तथा अलौकिक सत्ताओं के बीच निकटतम समायोजना है।

यद्यपि ईश्वर की सजीव शक्ति पूरी सृष्टि को अनुप्राणित करती है और मनुष्य में सत्य के दर्शन की तथा सद्गुण कों बरतने की सहज लालसा जाग्रत करती है तथापि उसके मार्ग में महापाप का व्यवधान आ जाता है। अत: केवल भगवत् कृपा से ही मनुष्य अपने उद्देश्यों

की पूर्ति कर सकता हैं। पोप समाज की आत्मा है, शासक समाज का मलिका है। जिस प्रकार आत्मा मस्तिष्क पर शासन करती है, उसी प्रकार मस्तिष्क अन्य अंगों पर शासन करे।

अगस्तिन और जॉन के राजनीतिक विचार चर्च की दृष्टि सें ईसाई यूरोप कें आदर्शों कें सम्बन्ध में प्रमाणित कथन समझे जा सकते हैं। उनके, विचारों की तुलना दांते द्वारा प्रतिपादित सार्वभौम राजतन्त्र के सिद्धान्त सें की जा सकती है। दांते का राजनीतिक ग्रंथ डिमोनार्किया चर्च के नियन्त्रण से मुक्त साम्राज्य की स्वतन्त्रता का पक्षपोषण करता है, और इसलिये उनके विचार अगस्तीन और जान के विचारों के प्रतिकूल हैं।

तथापि, सामान्य सिद्धांतों कों लेकर दोनों पक्षों में काफी समझौता भी है। दोनों पक्षों ने यूरोप को एकीकृत ईसाई समाज कें रूप में देखा जों दो दैवी शक्तियों से शासित होता था– अलौकिक शक्ति तथा लौकिक शक्ति; और ये दोनों शक्तियां क्रमश: चर्च और साम्राज्य में मूर्त होती थी। दोनों ही पक्ष राजनीतिक और सामाजिक मसलों का विश्लेषण प्रारम्भिक मध्ययुग की धार्मिक और नैतिक परम्पराओं के संदर्भ में करते हैं।

4.3 दांते का राजनीतिक दर्शन

दांते का राजनीतिक दर्शन गुटबन्दी की राजनीति के फलस्वरूप फ्लोरेंस सें उनके निष्कासन का तथा उनके जीवन–काल में इटली में पोप और सम्राट के दलों के बीच होने वाले संघर्ष का परिणाम है। ऐसी स्थिति में उन्हें साम्राज्य की एकता तथा सम्राट की सर्वव्यापी सत्ता के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार की शान्ति की स्थापना की आशा नहीं दिखी। साथ ही, उन्हें यह भी अनुभव हु आ कि पोप की नीतियां समाज में कभी न खत्म होने वाली कलह का मूल स्रोत है। उनका उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि सम्राट को, शक्ति प्रत्यक्षत ईश्वर सें प्राप्त होती है और इसलिए उसकी सत्ता चर्च से अलग और स्वतंत्र है। पोप की अलौकिक सत्ता कों उन्होंने पूर्णत: स्वीकारा किन्तु, साम्राज्य के पक्ष पोषकों की भांति उन्होंने भी गेलीशियन सिद्धान्त को अपनाया जिसके अनुसार लौकिक और अलौकिक शक्तियां केवल ईश्वर में ही एकीकृत होंती हैं और इसीलिए सम्राट किसी भी मानवीय सत्ता के अधीन नहीं है।

ग्रंथ के पहले भाग में दांते यह प्रश्न उठाने हैं कि विश्व के कल्याण के लिये लौकिक राजतन्त्र आवश्यक है या नहीं। उनकी परिभाषा कें अनुसार लौकिक राजतंत्र सभी सांसारिक जीवों की सरकार है। मनुष्यों का हर समुदाय किसी न किसी उद्देश्य के लिये स्थापित किया जाता है, 'और इन सभी समुदायों में सार्वभौम साम्राज्य सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च है। चुकी विवेक मनुष्य का विशिष्ट लक्षण है, इसलिए मानव–जाति का उद्देश्य विवेकपूर्ण जीवन की अनुसूची है और यह तभी सम्भव है जब सार्वभौम शान्ति हो। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सहयोगी उद्यम के लिये निर्देशन क्री आवश्यकता होंती है, और इसलिए हर समाज का एक शासक होता है। इस प्रकार समस्त मानव–जाति एक ही शासक कें अधीन एक समाज है। इस शासक की सरकार की तुलना उन्होनें प्रकृति के ऊपर ईश्वर की सरकार से की। जिस प्रकार प्रकृति अपनी एकता के कारण पूर्ण है उसी प्रकार मानव–समाज कों भी पूर्ण होने के लिये यह आवश्यक है कि सभी मनुष्य एक ही सत्ता के अधीन हो।

ग्रन्थ का दूसरा भाग इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करता है कि क्या रोमनों द्वारा साम्राज्य का गौरव धारण करना न्यायसंगत था। इस प्रश्न के उत्तर के पीछे प्रमुख विचार यह था कि ईश्वर का संकल्प मानव इतिहास में परिलक्षित होना है। रोमन साम्राज्य कें उत्थान का इतिहास यह बनाता है कि रोम को शक्ति और गौरव के शिखर तक पहुंचने में दैवी निर्देशन मिलता रहा है। संकट के कई अवसरों पर दैवी शक्ति के चमत्कारपूर्ण हस्तक्षेप से रोमन राज्य की रक्षा हुई है। रोम को दैवी निर्देशन प्राप्त था, इस बात की पुष्टि रोमनों ने लोभवश नहीं वरन् विजित तथा विजेता दोनों के सामूहिक हित की दृष्टि से साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न द्वारा की। इसके अतिरिक्त, दांते के अनुसार रोमन साम्राज्य विश्व साम्राज्य स्थापित करने के ऐतिहासिक प्रयत्नों में से पांचवा प्रयत्न था और केवल यही प्रयत्न सफल हुआ। इससे भी यह सिद्ध होता है कि रोम को दैवी निर्देशन प्राप्त था। इस सम्बन्ध में दांते का अन्तिम तर्क यह था कि यदि ईसा की मृत्यु वैध सत्ता के आदेश से न हुई होती तो सही अर्थों में यह नही कहा जा सकता कि उन्हें मनुष्य के महा पाप का "दण्ड" मिला था, क्योंकि "दण्ड" केवल वैध सत्ता ही दें सकती है और तब ईसा ने मानव–जाति के मोक्ष का मार्ग न खोला होता। अत: पाइलेट और आगस्तस की सत्ता अवश्य ही वैध और सम्यक् रही होगी।

ग्रन्थ का तीसरा भाग अत्यधिक विवाद का विषय बना। इस भाग में दांते ने यह कहना चाहा कि सम्राट की सत्ता प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर से प्राप्त हुई है और इस प्रकार उन्होंने चर्च के पक्ष–पोषकों के इस तर्क का खण्डन करना चाहा कि सम्राट को सत्ता पोप के माध्यम से प्राप्त है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि चर्च के ऊपर सत्ता केवल धर्मग्रन्थों की ही है। यह विचार स्थापित कर चुकने के उपरान्त वे धर्म ग्रन्थों के अवधारणाओं का परीक्षण प्रारम्भ करते हैं कि जिनके सम्बन्ध में चर्च के पक्ष पोषकों द्वारा यह दावा जताया था कि वे उद्धरण लौकिक शासकों के ऊपर चर्च की सत्ता का होना सट करते है। इस निरीक्षण कें निष्कर्ष स्वरूप उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि चर्च कें पास लौकिक शक्ति का होना चर्च की प्रकृति के विरुद्ध है क्योंकि चर्च का राज्यतंत्र इस जगत की वस्तु ही नहीं है।

अपने दूसरे ग्रन्थ में दांते ने पोप को भेड़पालो की शक्ल में भूखे भेड़िये कह कर सम्बोधित किया। फ्रांस में बोनिफेस के बड़े–बड़े दावों की असफलता कें फलस्वरूप पोप की संप्रभुता कें विरुद्ध वातावरण अधिक तीव्र हुआ।

4.4 मार्सिलियो ऑफ पदुआ तथा विलियम ऑफ ओखम

पोप और लौकिक शासक के, बीच संघर्ष का दूसरा अवसर उस समय आया जब बाईसवें जॉन ने शासन के क्षेत्र में एक विवादग्रस्त विषय में हस्तक्षेप करने की चेष्टा की। इस संघर्ष में दो महत्वपूर्ण प्रतिभाएं सम्मुख आई.... मार्सिलिओ ऑफ पदुआ और विलियम ऑफ अखिम। मार्सिलिओ की पुस्तक **डिफेन्सरपैसिस** लिविस बबेरियन को सम्बोधित थी और उसके प्रकाशन के बाद उन्होंने जर्मनी में शरण ली। लौकिक शासन सम्बन्धी उनका सिद्धान्त प्रत्यक्ष रूप से इटली के नगर–राज्यों के सिद्धान्त एवं व्यवहार पर आधारित था। उन्होंने लौकिक शासन के पक्ष पोषण के लिए नहीं वरन पोपशाही की पूरी साम्राज्यवाद व्यवस्था को निर्मूल करने के इरादे से ग्रंथ लिखा। उनका उद्देश्य था लौकिक शासनों को नियन्त्रित करने की पोप सत्ता को परिभाषित

कर उसे सीमित करना, और इस उद्देश्य में वे चर्च को राज्य कें अधीन रखने में मध्ययुगीन चिन्तकों में सबसे आगे थे।

अपने इस सिद्धान्त का दार्शनिक आधार उन्होंने अरस्तु से लिया। उनके अनुसार उनका ग्रन्थ अरस्तु की **पॉलिटिक्स** कें उस अंश का परिशिष्ट है जो राज्य में क्रांति और कलह कें कारणों का विवेचन करता है। क्यूकी इस बात के बावजूद कि अरस्तु नें क्रांति के सभी सम्भावित कारणों का विवेचन किया, उन्हें क्रांति का एक कारण ज्ञात नहीं था और इसलिए उसका विवेचन उन्होंने नहीं किया। वह कारण है शासकों के ऊपर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित करने का पोप का दावा जिसने, समस्त यूरोप में कलह के बीज बो दिए।

अरस्तु का अनुसरण करते हु ए मार्सिलिओ राज्य कों एक प्रकार की सजीव—इकाई मानते है जिसके सभी अंग उसके जीवन के लिये आवश्यक कार्यों को सम्पादित करते हैं। राज्य का "स्वास्थ्य " अर्थात उसकी शान्ति, उसके हर अंग की व्यवस्थित क्रियाविधि पर अवलम्बित है, और कलह तभी उत्पन्न होती है जब राज्य का कोई अंग अपना कार्य अनुचित ढंग से करने लगता है या दूसरे अंग के कार्य में हस्तक्षेप करने लगता है। राज्य का विकास परिवार से प्रारम्भ होता है, परन्तु राज्य "पूर्ण समाज " है जो अच्छे जीवन के लिए आवश्यक सभी साधनों को प्रदान करने में समर्थ है। "अच्छे जीवन " के दो अर्थ है इस जीवन की अच्छाई और आने वाले जीवन की अच्छाई। पहली अच्छाई का अध्ययन दर्शन का विषय है और दूसरी अच्छाई का ज्ञान तह पर आश्रित है और विश्वास द्वारा प्राप्त होता है। राज्य के अंग उसके विभिन्न वर्ग है। राज्य में किसानों और कारीगरों के वर्ग हैं जो भौतिक उपादान प्रदान करते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त योद्धाओं, राज्यअधिकारियों, और पुरोहितों के भी वर्ग हैं जो वस्तुत: राज्य का निर्माण करते हैं। ईसाई राज्य में पुरोहित के कार्य पोप करता है। पोप का यह कार्य है उन बातों को जानना और उन्हें बताना जो चिरन्तन मोक्ष प्राप्त करने और दु :ख से बचने के लिए धर्म ग्रन्थों के अनुसार आवश्यक हैं। फिर भी चिन्तन मोक्ष कें साधन के रूप में धार्मिक विश्वास चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, लौकिक दृष्टि से वह अप्रासंगिक हो गया है। लौकिक जीवन के प्रश्नों की विवेचन धार्मिक विश्वास कें संदर्भ में न कर केवल विवेक कें आधार पर ही करना होगा। सभी लौकिक सम्बन्धों की दृष्टि से पोप समाज के अन्य वर्गों में से एक वर्ग मात्र है, अत सभी लौकिक मसलो पर राज्य का पोप पर नियन्त्रण उसी प्रकार है जिस प्रकार राज्य का कृषि पर या वाणिज्य पर। इस दृष्टि से धर्म एक सामाजिक संस्था है जों भौतिक उपकरणों का प्रयोग कर अपनी क्रियाओं से ऐसे सामाजिक परिणाम उत्त्पन करती है जिनको नजर अन्दाज नही किया जा सकता। इसलिए धर्म को सामाजिक नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता है।

राज्य के अतिरिक्त विधि के विवेचन में भी मार्सिलियो लौकिक और अलौकिक सत्ताओं के बीच का सम्बन्ध स्पष्ट करते है। विधियां दो प्रकार की है दैवी और मानवीय। दैवी विधि सीधे ईश्वर का आदेश है जिसका सम्बन्ध मनुष्यों के उन ऐच्छिक कार्यों से है जिनको उन्हें इस जगत में करना है या जिससे बचना है ताकि आने वाले जगत में उन्हें सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हो सकें। दैवी विधि के पीछे पुरस्कार एवं दण्ड की वह व्यवस्था है जो मृत्यु के बाद के जीवन में ईश्वर लागू करेगा। अर्थात् दैवी विधि के उल्लंघन के लिए लौकिक जीवन में कोई दण्ड नहीं

है, वरन् मृत्यु के बाद के जीवन में उसका दण्ड मिलता है। इस दृष्टि से मानवीय विधि दैवी विधि से व्युत्पन्न नहीं है वरन् उसके विरोध में है। ऐसा कोई भी नियम जिसके उल्लंघन से लौकिक जीवन में दण्ड मिलता हो, मानवीय विधि का अंग है। इससे यह भी सिद्ध होना है कि पोप के धार्मिक प्रवचन सही अर्थों में आदेश नहीं है क्योंकि उन्हें न मानने वाले को इसी जीवन में दंड देने की सत्ता पोप के पास नही है। मानवीय विधि के उल्लंघन करने पर राज्य कें किसी भी अन्य सदस्य की ही भांति पोप पर भी उसी प्रकार मुकदमा चलाया जा सकता है और उसे खण्डित किया जा सकता है। मानवीय विधि की परिभाषा कें अन्तर्गत अपराध वही है जिसके लिए किसी मानवीय अभिकरण द्वारा इसी जीवन में दण्ड दिया जा सके, जबकि 'अलौकिक अपराध' के लिये इसी जीवन में यदि दण्ड की व्यवस्था कर दी जाती है तो वें अपराध स्वत मानवीय विधि के उल्लंघन बन जाते है धार्मिक बहिष्करण का अधिकार इसीलिए लौकिक सत्ता का अधिकार है। पोप जिन कार्यों को करना चाहते है उनकी तुलना चिकित्सक द्वारा रोगी को सलाह देने के कार्य सें ही की जा सकती है। पोप अगले जीवन कें परिणामों को इंगित कर दुष्टात्मक और अधार्मिक व्यक्ति को केवल डरा–धमका सकता है, उसे प्रायश्चित करने के लिए बाध्य नही कर सकता।

मार्सिलिओ चर्च कीं लौकिक व्यवस्था पर भी आघात करते है। चर्च की अपनी कोई निजी सम्पत्ति न है, न हो सकती है। धार्मिक सम्पत्ति समाज द्वारा दिया गया एक प्रकार का अनुदान है, ताकि चर्च पूजा के धार्मिक कार्य कर 'सके। अत: यदि राज्य नें पोप को कर मुक्त नहीं– कर रखा है, तो पोप को भी उसी प्रकार सभी राजकीय कर देनें होंगे जिस प्रकार अन्य वर्गों को देने पड़ते है। चूंकि पोप राज्य से सम्पत्ति एवं अन्य सुविधाएं प्राप्त करता है, इसलिए राज्य पाप को धार्मिक कार्य सम्पन्न करनें के लिए बाध्य कर सकता है।

5. निष्कर्ष

मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन सम्बन्धी यह चर्चा इस निष्कर्ष के साथ समाप्त की जा सकती है कि यह राजनीतिक दर्शन प्राचीन और आधुनिक दर्शन–व्यवस्थाओं के बीच संक्रमण का परिचायक है। प्राचीन दार्शनिक तत्वों जैसे सार्वभौमिकता को इस दर्शन ने चरितार्थ करते हुए उसे आधुनिक प्रसंगों के सम्मुख प्रस्तुत किया और इस प्रकार सार्वभौमिकता एक सतत दार्शनिक परम्परा बन चली। चर्च–राज्य संघर्ष कों तीव्रतर करतें हुए चर्च कें विरूद्ध वैचारिक अभियान के प्रवर्तन ने आधुनिकता को दूसरा स्थाई आधार प्रदान किया। विधि सम्बन्धी विचार, लौकिक–परलौकिक संदर्भो में अलगाव तथा दैविकप्राकृतिक कानूनों में परस्पर सामंजस्य अन्य ऐसे वैचारिक योगदान है जों मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन को कालातीत प्रासंगिकता प्रदान करतें है।

6. संदर्भ ग्रंथ

1. ओट्टो गीर्के : पोलिटिकल थ्योंरीज ऑफ मिडिल एज
2. मेक इलवेंन : दि ग्रोथ ऑफ पोलिटिकल थॉट इन दि वेस्ट
3. हर्नशॉ (सं.) : सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज ऑफ सम ग्रेट मिडीएवल थिंकर्स
4. डी 'एन्ट्रीव्स : दि मिडीएवल कॉन्ट्रीब्यूशन्स टु पोलिटिकल थॉट

5. सेबाइन : हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थ्योरी।

7. अभ्यास प्रश्न

1. मध्ययुगीन राजनीतिक दर्शन की विशेषताओं कों समझाइए।
2. चर्च–राज्य सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए।
3. संत अगस्तिन कों मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन का जन्मदाता कहना कहां तक उचित है? स्पष्ट कीजिए।

इकाई–8
मैकियावली

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. मैकियावली : जीवन
4. मैकियावली कालीन वातावरण
5. लेखन
6. राजनीतिक विचार
   6.1 मानव–प्रकर्ति
   6.2 मैकियावली की राज्य की अवधारणा
   6.3 राज्य के स्थायित्व के लिए जरूरी चीजें
   6.4 नैतिकता एवं राजनीति
   6.5 राज्य की प्रकृति
7. सारांश
8. इकाई गत अभ्यास कार्य
9. स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
10. संदर्भ ग्रंथ

1. उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने कें उपरान्त आप जान सकेंगे कि

- मध्यकालीन चिन्तन संरचना से आधुनिक चिन्तन संरचना का उदभव कैसे होता है तथा इस काल की क्या–क्या प्रमुख प्रवृत्तियां रही?
- मैकियावली के काल का वातावरण कैसा था तथा उसने उसके चिन्तन को किस प्रकार प्रभावित किया?
- मैकियावली के प्रमुख राजनीतिक विचार क्या थे तथा उनका चिंतन के इतिहास में कैग महत्त्व था?

2. प्रस्तावना :

मैकिपावली का स्थान शरोपीय राजनीतिक चिन्तन की मुख्य धारा से बाहर है क्योंकि उसका सरकार तथा समाज के बारे में चिन्तन एक तरफ मध्यकालीन विचारकों से पूर्णत: भिन्न है तो दूसरी तरफ 16वी तथा 17वीं सदी के विचारकों – बोदा, हॉब्स, हूकर तथा रनॉक – से भी दूर है। मध्यकालीन विचारक मानव के कर्त्तव्य तथा दायित्वों की परिभाषाओ सें जुड़े रहे। उनके सन्मुख चिन्तन के मुख्य विषय थे कि चर्च क्या है? सांसारिक सत्ता क्या है? राज्य का

पोप के प्रति क्या दायित्व है? मानव की प्रकृति तथा ईश्वर से उत्क्रष्ट क्या सम्बन्ध है? मध्यकालीन राजनीतिक दर्शन पूर्णत: धर्मतंत्र पर आधारित एवं अजित था। इस काल में हम चर्च की सत्ता तथा तत्वों की सीमाओं की ही मुख्यत: विवेचना पाते है। किन्तु 16वी एवं 17वी सदी के चिन्तन की जड़ें भी स्वतंत्र में समाहित थी। यह सही है कि 16वी एवं 17वी सदी का धर्मतंत्र मध्यकालीन धर्मतंत्र से पूर्णत: भिन्न था किन्तु इन सदियों के विचारकों ने भी उन्हीं पद्धतियों का प्रयोग किया, जिनका प्रयोग मध्यक में किया गया था। इन विचारकों ने अपने आपको उन्हीं प्रश्नों से जोड़े भी रखा। उन्होंने मध्यकाल के समान मुद्दे एवं प्रश्न प्रस्तुत किये, जैसे – मानव की प्रकृति का सार क्या है? मानव कें लिए ईश्वर का क्या उद्देश्य है? साथ ही, वे राज्य तथा चर्च, मजिस्ट्रेट तथा पादरी के अधिकरणों तथा व्यक्तियों की भी बात करते है।

3. मैकियावली : जीवन

मैकियावली का जन्म इटली के क्लोरेंस नगर राज्य में सन 1469 में हुआ था। उसने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा लेटिन के प्रसिद्ध अध्यापक पॉलो डा रोरसीग्लियो से प्राप्त की। उसके बाद उसने फ्लोरेंस विश्वविद्यालय से शिक्षा ली। सन 1498 तक मैकियावली के बारे में कुछ भी स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है। यद्यपि सन 1498 में फ्लोरेंस के शासन में परिवर्तन के साथ ही मैकियावली ने फ्लोरेन्स के राजनीतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। मैकियावली को द्वितीय चांसरी का अध्यक्ष तथा विदेश सम्बन्धों की कमेटी का सचिव नियुक्त किया गया। मैकियावली इस पद पर 14 वर्ष रहा। मैकियावली के राजनीतिक जीवन का आकस्मिक अंत सन 1512 में उस समय हुआ, जब मेडिकिस सत्ता में आया। मैकियावली पर नये शासन कें विरूद्ध षड्यंत्र करने का आरोप लगाया गया तथा उसे देश निकाला देकर **एक छोटे से फार्म** में बन्दी बना दिया गया। वहीं मैकियावली ने अपनी दोनों प्रमुख पुस्तकों – **प्रिंस एवं डिस्कोर्सेज़** की रचना की।

नागरिक जीवन के इन वर्षो में मैकियावली को कई कूटनीतिक मिशनो पर फ्लोरेंस से बाहर भेजा गया। इन मिशनों के दौरान उसने सरकारी रिपोर्टों के अधिकांश भाग लिखे तथा कई नये विचार पैदा किए जिन्हें उसने तदुपरान्त अपने राजनीतिक लेखन मे विकसित किया। इसके साथ ही, कूटनीतिक मिशनों के फलस्वरूप एक तरफ मैकियावली का अपने युग के प्रभावशाली व्यक्तियों, जैसे फ्रांस के लुई 12वें, जेसर बोर्जिया, पोप जुलियस तथा सम्राट मैक्सीजिलन से मिलना संभव हो सका तो दूसरी तरफ उसे विभिन्न देशों की शासन प्रणालियों के संचालन एवं कार्यक्षमता तथा उनकी कमियों का प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक अनुभव भी प्राप्त हों सका।

4. मैकियावलीकालीन वातावरण :

16वीं सदी मध्यकाल एवं आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के मध्य संक्रमण का काल था। इस सदी में मैकियावली की प्रिंस (1513), थॉमस मूर की यूरोपीया (1516), मार्टिन लुथर की नाईन फाइल (1517) तथा जॉन बोंदा की पुस्तक सिक्स लिवरस डि ला रिपब्लिक (1576) राजनीतिक दर्शन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। साथ ही, इन विचारकों ने इस युग

को एक नया रूप एवं स्वरूप दिया। मैकियावली के फल एवं उस समय की चिन्तन प्रक्रिया की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं या प्रवृत्तियां थी–

(i) पुनर्जागरण एवं पुनरोदद्भव

(ii) पुन : सुधार एवं पुनर्निर्माण

(iii) राष्ट्र–राज्य

यहां यह उपयुक्त होगा कि हम इन तीनों प्रवृतियों के बारे में संक्षेप में चर्चा करें। प्रथम, पुनर्जागरण एवं पुनरोद्भव का प्रारम्भ सामान्यत: 14वीं सदी के शुरू में इटली से माना जाता है। किन्तु 16वीं एवं 17वीं सदी में यह पूरे यूरोप में फैल गया। क्लासिकल अवधारणा के रूप में पुनर्जागरण का तात्पर्य ग्रीक एवं रोम की प्राचीन शिक्षाओं की पुन: खोज तथा 'काले युगों' (Dark Ages) की जड़ता, अज्ञानता तथा रूढ़िवादिता से दूर रहना था। पुनर्जागरण की झलक सबसे पहले हमें साहित्य, पेंटिंग, मूर्तिकला तथा वास्तुकला में दिखायी देती है। राजनीति में इसका रूप राज्य के निरपेक्ष (Secular) रूप में सामने आया। साथ ही, पुनर्जागरण का केन्द्रीय बिन्दु मानवतावाद भी रहा है। निरपेक्षता एवं मानवतावाद का तात्पर्य धर्मविरोधी अथवा नास्तिकता नहीं था। इसका आग्रह इस संसार में व्यक्ति की महत्ता पर जोर देना था। साथ ही, पुनर्जागरण का आग्रह सांसारिक दुनिया में व्यक्ति की जागरूकता, समझ तथा उसकी दशा में सुधार पर केन्द्रित था।

द्वितीय इस काल की दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति पुन: सुधार एवं पुनर्निर्माण थी। इसका मुख्य लक्ष्य चर्च के अन्दर व्याप्त सत्ता संघर्ष तथा प्रतिद्वन्द्वियों कें परस्पर विरोधी दावों को खत्म करना था क्योंकि चर्च में सुधार के लिये जो परिषदीय आन्दोलन चला था, वह असफल रहा था। परिणामत: चर्च एक भ्रष्टाचारी संस्था के रूप में रह गया था। चर्च का लक्ष्य सांसारिक सम्पत्ति, धनसम्पदा तथा सत्ता प्राप्त करना भर रह गया था। वह आत्मा की मुक्ति का साधन नहीं था। ऐसे समय में सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हु आ जिसने पोप की सभा पर तीव्र कुठाराघात किया तथा एक निरपेक्ष समाज (Secular Society) की रचना पर जोर दिया। व्यक्ति को यह बताया गया कि उसे चर्च एवं पोप की सत्ता की अपेक्षा स्वयं की शक्ति एवं बुद्धि पर ही आश्रित रहना चाहिए। तृतीय, इस काल की तीसरी प्रवृत्ति राष्ट्र–राज्यों का उद्भव थी। मैकियावली के समय में मध्यकाल की यह मान्यता कि यूरोप एक है तथा वह धार्मिक रूप से पोप एवं राजनीतिक रूप से 'पवित्र रोम साम्राज्य' द्वारा संचालित होता है, टूटने लगी थी। राज्य मानने लगे थे कि उनकी नियति एवं भाग्य उनके स्वयं के हाथ में है। राष्ट्रीय हित पूर्ति से ही वे आगे बढ़ सकते है। मैकियावली के स्वयं का देश इटली–कई हिस्सों में बंट गया था। हर राज्य अपने को सांस्कृतिक एवं बौद्धिक ज्ञान में दूसरे से उच्च मानता था। इटली पर चारों तरफ से आक्रमण हों रहे थे तथा विभाजित राज्य इन आक्रमणों का सामना करने में सर्वथा असमर्थ थे। इसके बावजूद वे अलग रहना ही पसन्द करतें थे। अत: कह सकते है कि 16वी सदी में 'व्यापक व सार्वभौमिक साम्राज्य' (Universal empire) की मान्यता की जगह 'राष्ट्र–राज्य' (Nation–state) का विचार तेजी से फैलाने लगा था।

5. लेखन :

मैकियावली ने अपने निर्वासन काल में कई पुस्तकों की रचना की जिनमें **प्रिंस** सबसे उल्लेखनीय है। **प्रिंस** की रचना मैकियावली ने सन 1513 में की थी। **प्रिंस** छोटी किन्तु काफी विवादास्पद पुस्तक है। राजनीतिक सिद्धान्त की अन्य रचनाओं की अपेक्षा यह बहुत सरल पुस्तक है तथा इसे आसानी से पढ़ा जा सकता है। मैकियावली ने स्वयं इसकी प्रस्तावना में लिखा है कि ' 'मै मेरी रचना को लम्बे मुहावरों तथा उच्च स्तरीय शब्दों से अलंकृत नहीं करना चाहता, जैसे कि कुछ लेखक अपने लेखन को इनसे अलंकृत करते है। " किन्तु साथ ही इसका यह भी –परिणाम हुआ कि मैकियावली को अधिकांशत: गलत समझा गया तथा उसकी गलत व्याख्या की गयी। **प्रिंस** के बारे में एक भिन्न मन भी पाया जाता है। उदाहरण के लिए 17वीं सदी का महत्त्वपूर्ण विचारक बरो स्पीनोचा का मानना है कि **प्रिंस** एक गुप्त अर्थ लिये हुए है।

प्रिंस के अलावा मैकियावली की अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं **हिस्ट्री ऑफ़ फलोरेंस, दि आर्ट ऑफ़ वॉर** तथा **डिस्कोर्सेज** है। **हिस्ट्री ऑफ फ्लोरेंस** में इटली तथा विशेषकर फ्लोरेंस के इतिहास तथा तत्कालीन दशा का वर्णन है। **दि आर्ट ऑफ़ वार** सैनिक मामलों पर लिखी गई एक पुस्तक है। 16वी सदी में यह काफी चर्चित पुस्तक रही थी। इनके अतिरिक्त मैकियावली ने लेवी के रोम के इतिहास पर एक इखला भी लिखी थी, इसे डिस्कोर्सेज के रूप में जाना जात है। "डिस्कोर्सेज के बिना प्रिंस वैसे ही है जैसे डेनमार्क के युवराज बिना हेमलेट।

स्वमूल्यांकित प्रश्न :

1. निम्नलिखित वाक्यों के आगे इंगित कीजिये कि वे सही है या गलत
   (अ) राष्ट्र–राज्यों का उद्भव मैकियावली कें काल की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है
   (ब) मैकियावली ने उसी पद्धति को अपनाया जिसका मध्यकालीन विचारकों ने प्रयोग किया था:
   (स) उपयोगितावादी चिन्तन प्रक्रिया मैकियावली कें काल की देन थी
   (द) पुनर्जागरण एवं पुन: सुधार आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य राज्य सभा पर पोप सभा का नियन्त्रण कड़ा करना था
2. निम्नलिखित में से कोई एक सही उत्तर चुनिये
   मैकियावली की कौन–सी पुस्तक नहीं है :
   (अ) प्रिंस (ब) डिस्कोर्सेज
   (स) लीज (द) दि आर्ट ऑव

उत्तर (   )

6. राजनीतिक चिन्तन :

अध्ययन सुविधा की दृष्टि सें मैकियावली के राजनीतिक चिन्तन को निम्नलिखित भागों में बांट कर देखा जा सकता है :

6.1 मानव प्रकृति :-

मैकियावली ने मानव प्रकृति के बारे में नकारात्मक एवं निराशावाद मत अपनाया। मैकियावली ने स्वयं प्रिंस में लिखा है कि ' 'व्यक्तियों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वे अकृतज्ञ, बातूनी, कपटी, खतरे को टालने में उत्सुक, लाभ कें लालची तथा लोभी होते है। अत: आप उनमें विश्वास रखने के लिए बाध्य नहीं है। " (अध्याय 17, पृ. 90) मैकियावली ने कहा कि किसी बुद्धिमान राज्य को व्यक्ति पर विश्वास नहीं करना चाहिए। अगर वह ऐसा करता है तो यह उसके लिए नुकसानदायक एवं हित विरूद्ध होगा। मैकियावली नें कहा –कि राजनीति कें लेखकों के उल्लेखों एवं इतिहास के ढेर सारे उदाहरणों सें हमे ज्ञात होता है कि व्यक्ति दुराचारी होते है। व्यक्ति अच्छा हो ही नहीं सकता अगर उसको इसकी कोई आवश्यकता न हो। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति उसी समय तक अच्छा है जब तक उसको इसकी आवश्यकता है। जब आवश्यकता खत्म हो जाती है तो जो भी स्वतंत्र होकर उन्हें अच्छा लगता है, वे करते है। ऐसा करके वे अव्यवस्था तथा अस्पष्टता पैदा कर देते है, हालांकि मैकियावली इस बात पर जोर नहीं देना है कि सभी व्यक्ति हमेशा बुरे होतें है। मैकियावली का मानना है कि व्यक्ति अच्छा भी हों सकता है तथा सफल राज्य भी अच्छाई पसन्द हों सकता है। मैकियावली रोम के सम्राट मार्कस ओरेलियस का उदाहरण देना हुए कहता है कि वह साधारण जीवन, न्याय के प्रति लगाव, मानवता आदि मूल्यों पर चलकर भी एक सफल सम्राट बन सका। किन्तु मैकियावली की मान्यता है कि ऐसा हमेशा नहीं वरन् कभी–कभी अपवाद स्वरूप ही होता है।

मैकियावली स्वर्णयुग कें विचार के प्रति आकर्षित था तथा वह इटली में एक अन्य स्वर्ण युग देखना चाहता था। **डिस्कोर्सेज** में वह लिखता है कि इतिहास में कभी–कभी ऐसा युग भी आना चाहिये जहां अच्छी घटनायें तथा अच्छा शासक साथ–साथ आयें, ताकि अच्छा शासक इन घटनाओं का फायदा उठाते हुये, अपनी नीतियों एवं संवैधानिक व्यवस्थाओं द्वारा शान्ति एवं न्यायार्व विश्व स्थापित कर सकें। किन्तु मैकियावली का अन्तिम निष्कर्ष यह था कि ऐसा स्वर्णयुग अत्ययुगीन तथा अस्थायी होगा और अन्ततः मानव प्रकृति के बुरे तत्वों का प्रभाव स्थापित हो जायेगा।

मैकियावली का मानना है कि कुछ सीमा तक व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का स्वामी होता है। वह लिखता है कि ' 'बहुत सें व्यक्ति इस मत के रहे है कि सांसारिक घटनाएं भाग्य एवं ईश्वर द्वारा इस प्रकार संचालित होंती है कि व्यक्ति अपनी बुद्धि सें उन्हें बदल नहीं सकता है। " मैकियावली ने इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया। यद्यपि उसनें माना कि मानव जीवन में भाग्य महत्वपूर्ग भूमिका निभाता है, किन्तु साथ ही वह इस कारण पैदा होने वाली असहायता से भी सचेत करता है। **प्रिंस** के अंत में एक अध्याय भाग्य पर लिखा गया है। जिसमें उसने भाग्य की तुलना नदी की बाढ़ से ही है। नदी की बाढ़ शक्तिशाली होती है किन्तु उसे तटबन्दों, नहरों तथा बांधों से नियन्त्रित किया जा सकता है। मैकियावली का मानना रहा है कि भाग्य हमारे आधे कार्यो को नियन्त्रित करता है किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति घटनाओं कों अपने पक्ष में करके तथा उनके अनुरूप कार्य करके इस आधे भाग को अपने पक्ष में मोड़ लेता है। मैकियावली ने लिखा है कि ' 'व्यक्ति को समय के साथ चलने के लिए तैयार रहना चाहिए।

सावधान होने की बजाय जल्दबाज होना ज्यादा अच्छा है। भाग्य एक औरत है और अगर आप उसके स्वामी बनता चाहते हो तो यह आवश्यक है कि शक्ति सें उस पर विजय पाएं। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि वह कायर व्यक्ति की उपेक्षा उन व्यक्तियों के सम्मुख स्वयं समर्पण कर देती है जो पराक्रम से कार्य करतें है। " मैकियावली ने कहा कि इतिहास सें हमें यह सबक मिलता है कि विश्व के महान एवं सफल व्यक्तियों ने अपने भाग्य के उस हिस्से के सहारे जिसे व्यक्ति पर छोड़ा गया है, घटनाओं को अपने पक्ष में मोड़ लिया है। अत: व्यक्ति को भाग्य के भरोसे बैठे रहने की अपेक्षा साहसपूर्वक समयानुकूल कार्य करना चाहिए।

6.2 मैकियावली की राज्य–अवधारणा :–

मध्यकालीन विचारकों नें राज्य की अपेक्षा सांसारिक सत्ता पर जोर दिया। उनका मानना था कि समूर्ण ईसाईयत में दो तरह की सत्तायें – आध्यात्मिक तथा सांसारिक विद्यमान है। सांसारिक सत्ता का प्रतिनिधित्व राजा करता है तथा आध्यात्मिक सत्ता का चर्च तथा पोप। राजा पोप द्वारा निर्धारित किये गयें नियमों के अनुसार चलता है। दूसरे शब्दों में कह सकते है कि सांसारिक सत्ता (राजा) आध्यात्मिक सत्ता (पोप) द्वारा नियन्त्रित एवं निर्देशित होती है। किन्तु मैकियावली नें मध्यकाल की इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया। मैकियावली ने राज्य की सत्ता को किसी बाहरी सत्ता द्वारा नियन्त्रित नहीं किया। उसके अनुसार राज्य चर्च कें नियन्त्रण में नहीं वरन् सम्पूर्ण सत्ता स्वयं लिये हुए है। .'राज्य सें सर्वोच्च कोई अन्य सत्ता नहीं है तथा कोई भी इसे चुनौती नहीं दे सकता। यह सही है कि मैकियावली में सम्प्रभुता की अवधारणा उस रूप में नही मिलती, जिस रूप में वह हमें बोदां था हॉब्स के लेखन में मिलती है। मैकियावली के लेखन में हम ' 'राज्य " की उस धारणा को पाते है जिसने आगे चलकर सम्प्रभूता की मान्यता कों जन्म दिया। साथ ही हम एक अन्तर यह भी देखते है कि जिन विचारकों ने सम्प्रभुता की धारणा का विकास किया, उन्होंने मध्यकालीन ' 'सीमित सरकार " की मान्यता कों खुले एवं सचेत रूप से अस्वीकार किया, जबकि मैकियावली ने इसकी खुली एवं सचेत अस्वीकृति की अपेक्षा उसके प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया। मैकियावली यह मानकर चलता है कि राज्य अपनी सीमाओं में पूर्ण शक्ति सम्पन्न है तथा उसको बिना किसी चुनौती दिए हुए नागरिक उसके प्रति वफादार है। मैकियावली ने खुलें रूप से चर्च की सत्ता पर आक्रमण नहीं किया। वह चर्च की सत्ता की उपेक्षा करते हुए केवल राज्य सत्ता की ही विवेचना करता है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि मैकियावली द्वारा प्रस्तुत आधुनिक राज्य की अवधारणा केवल ग्रीककालीन मान्यता का ही पुन: उद्भव नहीं था। प्लेटो तथा अरस्तु की " राजा की मान्यता " से पूर्णत: भिन्न मैकियावली का राज्य नैतिक रूप सें तटस्थ है। मैकियावली के अनुसार राज्य सत्ता का वह संगठन है जिसका संचालनकर्त्ता जो भी अपने लिए अच्छे लक्ष्य हो, उनका प्रयोग कर सकता है। प्लेटो तथा अरस्तु के अनुसार राज्य का लक्ष्य नागरिक के सद्गुणों को बढ़ाना एवं उसके लिए नैतिक वातावरण तैयार करने के लिए है जबकि मैकियावली नें इस रूप में राज्य को एक साधन कें रूप में कभी प्रयोग नहीं किया। मैकियावली ने राज्य के नैतिक रूप की कभी विवेचना नहीं की। मैकियावली कें अनुसार राज्य वह संरचना है

जिसका सबसे प्रमुख लक्ष्य स्वयं का स्थामित्व तथा स्वयं को शक्तिशाली बनाना है। अत: कह सकते है कि मैकियावली की राज्य की अवधारणा ग्रीक की अपेक्षा रोमन अधिक है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

3. निम्नलिखित में से कौन सी प्रवृत्ति, मैकियावली के अनुसार, मानव में पायी जानी है
   (अ) मानव नैतिक प्राणी है।
   (ब) मानव दयालु प्राणी है।
   (स) मानव सद्‌गुणी है।
   (द) मानव अकृतज्ञ है।

उत्तर ( )

4. निम्नलिखित विचारकों में सें किस विचारक ने पहली बार खुले एवं स्पष्ट रूप से सम्प्रभुत्ता की अवधारणा की विवेचना की।
   (अ) मैकियावली
   (ब) जीन बोदा
   (स) रूसो
   (द) बर्क

उत्तर ( )

6.3 राज्य के स्थायित्व के लिए जरूरी चीज़ें :

मैकियावली कहता है कि अगर राजा अपनी सुरक्षा का आधार तैयार नही करता तो वह ज्यादा दिन सत्ता में नहीं रह सकता है। दूसरे शब्दों में मैकियावली ने एक राज्य कें स्थायित्व के लिए कुछ जरूरी चीजों पर जोर दिया है। मैकियावली ने राज्य की सुरक्षा से जुड़े प्रश्न तथा उसे सुदृढ़ करने के तरीकों पर प्रिंस के अध्याय 12वें से 14वें में प्रकाश डाला है। इनका हम संक्षेप में विवेचन कर रहें है:

प्रथम, दूसरों की सहायता कें बिना अपनी सुरक्षा का आधार तैयार करना चाहिए। अत : राजा का प्रथम दायित्व यह है कि वह स्वयं की सेना का गठन करें। जो व्यक्ति शक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे अपने सैनिक बढ़ाने चाहिए। मैकियावली ने उदाहरण देकर सिद्ध करने का प्रयास किया की इटली के बहुत सारे शासकों के अंत का कारण सैनिक कुव्यवस्था था। अत मैकियावली का यह तर्क था कि यह कहना कि वे दुर्भाग्य के शिकार हुए, वस्तुत गलत होगा। मैकियावली ने इटली की बढ़ती हुई इस प्रवृत्ति की आलोचना की कि ये शासक अपने स्वयं के सैनिकों की अपेक्षा मर्सीनरीज अथवा भाड़े के सैनिकों पर निर्भर होते जा रहे है। मैकियावली का कहना है कि मर्सीनरीज निरर्थक तथा खतरनाक होते है। मैकियावली ने लिखा है कि ' 'इटली के पतन का कारण और कुछ नहीं वरन् कई–कई वर्षो तक मर्सीनरी सैनिकों पर निर्भर रहना था। अगर उधार के सैनिक हारते है तो वे आपको खत्म करते है और अगर जीतते है तो वें आपको उस विदेशी शासक की दया पर छोड़ देते है, जिसके प्रति उनकी मूल वफादारी होती है। " इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि सन 1499 का लोरेंस का जो सैनिक षड्‌यंत्र हुआ उसका मैकियावली

को कटु अनुभव था। सन 1499 में फ्लोरेंस ने एक अन्य नगर राज्य पीसा का अतिक्रमण करने का प्रयास किया। फ्लोरेंस इससे पहले भी चार बार यह प्रयास कर चुका था, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली थी। पीसा पर आक्रमण करना फ्लोरेंस के लिये न केवल व्यापार के लिये महत्वपूर्ण था, किन्तु इससे भी अधिक आत्म गौरव के लिए यह जरूरी था। किन्तु फ्लोरेंस के पास स्वयं के, सैनिक नहीं थे, अत : उसने किराये कें सैनिकों द्वारा युद्ध किया। उसने पीसा कों लगभग जीत लिया गया था कि तभी किराये के सैनिकों ने धोखा दे दिया। अत : असफलता ही हाथ लगी। इस घटना सें मैकियावली की यह मान्यता काफी दृढ़ हों गयी कि किराये कें सैनिकों तथा मर्सीनरियों पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। ये लोग अपने राज्य कें लिये नही वरन् राज्य एवं परिवार कें लिए लड़ते है। ये हमेशा अपनी जान बचाने, में लगे रहते है। अत: राज्य अगर स्थायित्व एवं सुदृढ़ता चाहता है तो उसे सैनिक दृष्टि सें आत्म निर्भर होना ही होगा। इसके लिए यह जरूरी है कि वह स्वयं के नागरिकों की सेना ले ताकि वे महज पैसे के लिये नहीं वरन् अपने राज्य एवं परिवार कें लिये लड़ सके। अत : राजा को स्वयं के नागरिकों की सुदृढ़ सेना का गठन करना चाहिये। मैकियावली ने प्रिंस में लिखा है कि ' 'एक राजा को सुदृढ़ आधार तैयार करना चाहिये, अन्यथा उसें विपत्ति का सामना करना पड़ेगा। प्रत्येक राज्य – चाहे वह नया हों या पुराना (उसका) मुख्य आधार अच्छे कानून एवं अच्छे सैनिक होते है। साथ ही, आप बिना अच्छे सैनिकों के अच्छे कानून नहीं प्राप्त कर सकते। अगर आप के पास अच्छे सैनिक हो तो आप स्वत अच्छे कानून प्राप्त कर लेंगे। " (डेविड थॉमसन (सं.) **पोलिटिकल आइडियाज,** पृ. 27 से उद्दत)

द्वितीय, राजा को हमेशा योद्धा की तरह सोचना चाहिए तथा वैसे ही कार्य करना चाहिए। साथ ही उसे स्वयं अपनी सेना की कमान सम्भालनी चाहिये और उस जगह सें नेत्रतत्व करना चाहिए यहां हम मैकियावली तथा अन्य पुन–जागरण की 'सलाह–पुस्तकों ' के मूल्यों में अन्तर पाते है। उदाहरण के लिए, कास्टिग्लियन ने अपनी पुस्तक जिसकी रचना प्रिंस से कुछ वर्षों पहले की गई थी, में तर्क प्रस्तुत किया कि उन व्यक्तियों कों भी जों कि व्यावसायिक रूप से सेना से जुड़े हुए है, शान्ति काल में सत्य जीवन जीने के लिए युद्धात्मक दृष्टिकोण त्याग देना चाहिए। किन्तु मैकियावली ने इस प्रकार के दृष्टिकोण की आलोंचना की तथा इस प्रकार के दृष्टिकोण कें परिणाम को इंगित करते हुए कहा कि ' 'इस बात के प्रत्यक्ष उदाहरण है कि जिन शासकों ने सैनिक मामलों में इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया, उन्हें अपना शासन गंवाना पड़ा..... एक शासक को युद्ध, उसकी पद्धति तथा व्यवहार के मामलों में अन्य चीजों के विषय में बिल्कुल नहीं सोचना चाहिए। " (प्रिन्स, पृ सं. 51 – 52)

तृतीय, राजा को जल्दी एवं तीव्र निर्णय लेना चाहिये तथा गत्यात्मक रूप से कार्य करना चाहिये। इस संदर्भ में मैकियावली को सन 1500 में फ्रान्स में प्रथम कूटनीतिक के दोरान जो अनुभव हुआ, वह काफी महत्वपूर्ण है। सन 1500 में मैकियावली फ्रांस कें लुई 12वें के दरबार में गया, जो कि फ्लोरेंस का मित्र था तथा जिसने पीसा पर अतिक्रमण के लिये सैनिक भेजे थे। इस अतिक्रमण में वे पूरी तरह असफल रहे थे। मैकियावली लुई 12वें को यह अवगत

कराना चाहता था कि यह असफलता फ्लोरेंस की गलती के कारण नहीं वरन् उसके सैनिकों की अनुशासन हीनता के कारण हुई है। किन्तु मैकियावली को यहां एक जबरदस्त झटका लगा। मैकियावली को मालूम पड़ा कि फ्रांस का इटली विशेषकर फ्लोरेंस के लिए कतई ही कोई सम्मान नहीं है। मैकियावली ने पाया कि फ्रांस का यह मानना है कि यह नगर राज्य उन व्यापारियों द्वारा संचालित होता है जो अपने व्यापारिक फायदों के लिए युद्ध हेतु धन देते है। यहां के लोग गणतन्त्रात्मक प्रणाली पर बहस कर समय बर्बाद करते है, जबकि शासन प्रबन्ध में तीव्र निर्णय नहीं लिये जाते। मैकियावली ने पाया कि फ्रान्स का मानना है कि यह नगर राज्य कुछ नही है। इस अपमान से मैकियावली को धक्का लगा, किन्तु इससे उसने एक पाठ ग्रहण किया। मैकियावली ने निष्कर्ष निकाला कि राजनीति में सभ्य एवं मितव्ययी होना ही काफी नहीं वरन् पैसा खर्च करना चाहिए, शक्ति प्रयोग मे सक्षम होना चाहिए, जल्दी एवं तीव्र निर्णय लेना चाहिए तथा गत्यात्मक तरीके से कार्य करना चाहिए।

चतुर्थ, मैकियावली का मानना था कि राज्य की अपनी स्वयं की नैतिकता होंती है। यह नैतिकता है सफलता, स्वयं की रक्षा, अपने स्वयं के नागरिकों की रक्षा की गारन्टी तथा अपने हितों की रक्षा। मैकियावली ने माना कि एक राज्य व्यक्तिगत नैतिकता मापदण्डों पर चलने का खतरा मोल नहीं ले सकता है। एक व्यक्ति हमेशा सच बोल सकता है, किन्तु एक राजा कभी–कभी झूठ बोलकर ही अपने हितों एवं नागरिकों की रक्षा कर सकता है। मैकियाव्रली ने यह सबक जैसर बोर्जिया से सीखा। सन 1502 में जीसर बोर्जिया ने इटली के पूर्वी भागों पर विजय प्राप्त की। उसने शक्ति एवं चालाकी दोनों के सम्मिश्रण से यह सब किया। उसने पहले अपने दुश्मनों को विभिन्न वायदों से बहकाया तथा कालान्तर में उनको दण्डित करके या तो उन्हे अपने अधीन बना लिया या मौत के घाट उतार दिया। मैकियावली को जीसर का यह कार्य उचित लगा, क्योंकि इसके द्वारा ही वह एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। मैकियावली ने निष्कर्ष निकाला कि राजनीति एक ' 'शक्ति राजनीति " की तरह है। अत: राजा में लोमड़ी तथा शेर दोनों कें गुण होने चाहिए। अत: जब जरूरी हो वह लोमड़ी की तरह चालाकी तथा शेर की तरह शक्ति दोनों से अपना काम निकाले। राजा को यह ज्ञात होना चाहिये कि कहां चालाकी और कहां शक्ति का प्रयोग करना है।

पंचम, एक राजा को अपने मित्रों तथा प्रजा के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में मैकियावली ने अपने पहले की सम्पूर्ण चिन्तन परम्परा को अस्वीकार कर दिया। मैकियावली ने स्वयं प्रिंस में लिखा है कि ' 'मुझे डर है कि मै दु:साहसपूर्वक सोचता हूं, क्योंकि मै इस विषय में अन्यों से भिन्न मत प्रस्तुत कर रहा हूं। इसका कारण यह है कि पहले का विवेचन अव्यावहारिक है " (प्रिन्स, पृ. 55)। मैकियावली का सन्देह मुख्यत: परम्परागत मूल्यों के प्रति था। यद्यपि मैकियावली यह स्वीकार करता है कि यह बहुत् ही अच्छा होगा कि राजा में सभी गुण निहित हों। किन्तु मानव जिन परिस्थितियों में रहता है, उसमें यह बहुत ही मुश्किल है। अतः एक राजा को जो ऐसे विश्व में रहता है, जहां बहुत से व्यक्ति अच्छे नहीं है, अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए जब जरूरत हो अनैतिक भी बन जाना चाहिए (**प्रिन्स,** अध्याय XV)। अत: मैकियावली ने कहा कि राज्य को परम्परागत मूल्यों से नहीं बंधा रहना

चाहिये। वह उदारता के सद्‌गुणों की विवेचना करता हुआ कहता है कि उदारता का सद्‌गुण आपको कभी भी नुकसान पहुंचा सकता है। मैकियावली का तर्क था कि एक बुद्धिमान राजा को निर्दयी कहलाने पर कभी पछतावा नहीं करना चाहिए। उसें स्वीकार 'करना चाहिए कि यह एक ऐसा व्यसन है जिसके बिना वह अपने जीवन को बनाये नहीं रख सकता। सिसरो के इस तर्क को मैकियावली ने अस्वीकार कर दिया कि न्याय तथा उदारता वे सदगुण है जिनके कारण अधीनस्थ प्यार करने लगते है। मैकियावली कहता है कि उदारता का व्यवहार ही अनन्तः राजा कों घृणा तथा अपमान की तरफ धकेल देता है। सिद्धान्त को व्यवहार में बदलना बहुत मुश्किल है। जहां तक निर्दयता का प्रश्न है, क्लासिकल दर्शन में इसे एक बुराई माना गया है किन्तु मैकियावली कहना है कि एक अगर कोई निर्दयी कार्य प्रजा को एकत्रित तथा वफादार बनाये रख सके तो किसी बुद्धिमान राज्य को निर्दयी कहलवाने में संकोच नही करना चाहिये।

छटे, राजा के प्रति जनता में प्यार होना चाहिए या घृणा? इस प्रश्न पर सिसरो की प्रतिक्रिया थी कि राजा को जनता में भय को खत्म करना चाहिये, तथा प्यार को बढ़ाना चाहिये। सिसरो का मानना था कि अच्छे साधन का प्रयोग दूसरों पर अपने प्रभाव को बढ़ाने तथा अपनी सुरक्षा के लिए जरूरी है। किन्तु मैकियावली की इससे पूर्णत भिन्न प्रतिक्रिया थी। उसने लिखा है ' 'दोनों को प्राप्त करना कठिन है। " मैकियावली कहता है कि मानव इतना स्वार्थी है कि जब जरूरत होती है वह प्यार के बन्धनों को तोड़ देता है जबकि दण्ड का भय व्यक्तियों को वफादार बनाए रखता है। साथ ही मैकियावली ने यह भी कहा कि राजा को अनावश्यक रूप से जनता में घृणा पैदा नहीं करनी चाहिए। उसे जहां तक हो सके जनता की घृणा से दूर ही रहना चाहिए। मैकियावली ने कहा कि राजा को इस रूप सें कार्य करना चाहिए कि वह सद्‌गुणी होने की बजाय सद्‌गुणी दिखाई दे। साथ ही, राजा को जनता की पैतृक सम्पत्ति में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

सप्तम, राजा को अपने शब्दों का कितना सम्मान करना चाहिये? इस प्रश्न पर सिसरो ने कहा कि वायदा निभाना ही न्याय का आधार है। अतः जब हम अपने दुश्मनों से भी व्यवहार करे तो हमें अपने वचनों को निभाना चाहिये। मैकियावली ने सिसरो की मान्यता को अस्वीकार कर दिया। मैकियावली ने कहा कि अगर राजा के हितों के विरूद्ध कोई वायदा या वचन जाता हो तो उसे कभी भी अपने वचनों को नहीं निभाना चाहिये।" आज के समय में केवल वे ही राजा महान चीजों को प्राप्त कर पायें है, जिन्होंने अपने वचनों को निभाने की बहुत कम परवाह की है। " (स्किनर, **दि प्रिन्स,** कैम्बिज, 1988, पृ. XVIII)

6.4 नैतिकता एवं राजनीति :

जैसा कि हम उल्लेख कर चुके है, राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मैकियावली पहला विचारक था जिसने राजनीति को नैतिकता तथा धर्मशास्त्र सें करने पर जोर दिया। प्लेटो का सम्पूर्ण चिन्तन सद्‌गुण एवं नैतिकता के इर्द–गिर्द घूमता है। अरस्तु नैतिकता तथा राजनीति में अन्तर करता है किन्तु दोनों कों एक समान महत्व देता है तथा दोनों को एक साथ स्वीकार करता है। मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन में दोनों को एक साथ स्वीकारा गया किन्तु राजनीति को धर्मतंत्र के अधीन माना गया। मध्यकाल में राजनीति का स्वयं का अपना कोई अस्तित्व

नहीं था। पहली बार मैकियावली नें दोनों को प्रथक किया। साथ ही वह नैतिकता तथा धर्मशास्त्र को अस्वीकार कर देता है। मैकियावली नें मध्यकालीन मान्यता को पूर्णत : अस्वीकार कर दिया तथा राजनीति को, न केवल धर्मतंत्र से अलग किया वरन् उसे स्वतंत्र एवं सार्वभौमिक स्वरूप भी प्रदान किया। मैकियावली ने बाईबिल का कहीं प्रयोग किया तो वह 'ईश्वर के शब्दों ' की बजाय ऐतिहासिक घटनाओं के स्रोत के रूप में ही किया। अत : हम कह सकते है कि मैकियावली का राजनीतिक लेखन व्यावहारिक तथा गैर–नैतिक: (Amoral) है। मैकियावली के मतानुसार जो नैतिक मापदण्ड निजी व्यक्तिगत जीवन के लिए उपयुक्त है वे राज्य के लिए असान्दर्भिक है। जिन प्रश्नों, मुद्दों एवं मूल्यों का प्राचीन ग्रीककाल एवं मध्यकाल के राजनीतिक सिद्धान्त में केन्द्रीय स्थान था, उनकी मैकियावली ने आसानी सें उपेक्षा कर दी। डिस्कोर्सेज में प्लेटों का एक बार नाम आना है, किन्तु वह उसकी रिपब्लिक के कारण नही वरन् उनके उन दो विद्यार्थियों कें शोषण के संदर्भ में जो एक षड्यंत्र में शामिल थे। इसी तरह अरस्तु का विवेचन वह "How Women have brought the downfall of state" विषय पर करता है तो उल्लेख करना है, किन्तु उसनें उसकी पॉलिटिक्स अथवा एथिक्स पर एक शब्द भी नही कहा। मध्यकालीन विचारक सेंट ऑगस्टाइन तथा एक्वीनास का तो मैकियावली के लेखन में नाम तक नहीं है। मैकियावली की रूचि ' 'क्या होना चाहिये " की अपेक्षा ' 'क्या है " में थी। मैकियावली के लेखन में उन आस्थाओं तथा मान्यताओं का कतई कोई भी स्थान नही है, जो कि दैवीय मान्यताओं युक्त लेखन में होनी है। इसी कारण विचारकों का मानना है कि मैकियावली से आधुनिक राजनीतिक एवं सामाजिक सिद्धान्त की शुरूआत होतीं है।

6.5 राज्य की प्रकृति :

मैकियावली बहुत ही विशिष्ट एवं सीमित अर्थ में निरंकुश राज्य (Absolulist State) की वकालत करता है। यद्यपि मैकियावली ने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि निरंकुश राज्य सबसे अच्छी शासन प्रणाली है परन्तु मैकियावली ने उस किसी भी सिद्धान्त को अस्वीकार भी नही किया जो निरंकुश राज्य की मान्यता को चुनौती देती हो। मैकियावली ने उसके पत्रा–विपदा में भी कोई तर्क प्रस्तुत नहीं कियें। मैकियावली की रूचि इन बातों में ज्यादा थी कि राज्य कैसे काम करता है? इसका संचालन एवं संरक्षण कैसे किया जा सकता है? तथा इसकी अस्तित्व–शक्तियों को कैसे बढ़ाया जा सकता है?

यद्यपि मैकियावली को राज्यों के वर्गीकरण की जानकारी थी, किन्तु उसने अच्छी – बुरी, न्यायी – अन्यायी व्यवस्था में अन्तर नहीं किया। मैकियावली ने जो बातें राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के लिए जरूरी मानी, उन्हीं को उसने गणतन्त्रात्मक व्यवस्था के लिए भी उपयुक्त माना। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि प्रिंस में मैकियावली राजतंत्रात्मक व्यवस्था का समर्थन करता है तो डिस्कोर्सेज में उसका रूझान गणतंत्रात्मक व्यवस्था की ओर प्रकट होता है। इसी कारण मैकियावली ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में मेंडिसी परिवार को सलाह देते हुये एक "पैम्फलेट " लिखा जिसमें उसने कहा कि फ्लोरेंस के गणतंत्रात्मक संविधान के बहुत सें भाग शासन चलाने योग्य है, जरूरत इस बात की है कि हम उन्हे पुन : जीवित

करें। किन्तु विचारकों का मानना है कि यह मैकियावली कें चिन्तन कोरा आदर्शवाद था, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण यूरोप तेजी से राजतंत्रात्मक व्यवस्था की तरफ बढ़ रहा था तथा राजतंत्र का तब तक काफी दृढ़ता से अपनी जड़ें जमा चुका था।

7. सारांश :

मैकियावली पुनर्जागरण की देन है। मैकियावली कें समय में मध्ययुगीन मान्यताएं टूटने लगी तथा नये विचार सामने आने लगे थे। इनमें सबसे प्रमुख राजनीति का निरक्षेप स्वरूप तथा राष्ट्र–राज्य की मान्यता का उभरना था। मैकियावली ने नये विचारों के उद्भव में योगदान दिया, अत: उसे अक्सर पुनर्जागरण या नये, युग का शिशु कहा जाता है। मैकियावली ने पहली बार राजनीति को धर्मतंत्र एवं नैतिकता से न केवल पृथक किया वरन् उसे स्वतंत्र स्वरूप भी प्रदान किया। मैकियावली मानव प्रकृति का विश्लेषण करते हुए कहता है कि वह स्वार्थ से संचालित होता है जब तक व्यक्ति का स्वार्थ है तब तक वह आपके साथ है, स्वार्थ निकलने के उपरान्त वह आप से अलग हो जाता है। मैकियावली ने एक राज्य के स्थायित्वत तथा सुदृढ़ता के लिए कौन–कौन सी चीजें आवश्यक है, उनका विस्तार सें विवेचन किया है। संक्षेप में ये निम्नलिखित है:

(1) राजा को स्वयं की सुदृढ़ सेना का गठन करना चाहिए।

(2) राजा को, हमेशा योद्धा की तरह कार्य करना चाहिए।

(3) राजा में नीव निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए।

(4) राज्य की नैतिकता व्यक्ति की नैतिकता से, भिन्न होंती है।

(5) राजा को चालाकी एवं शक्ति दोनों के प्रयोग की कला आनी चाहिए।

(6) राजा को जनता की अनावश्यक घृणा से बचना चाहिए।

मैकियावली को राज्यों के वर्गीकरण की जानकारी थी, किन्तु उसकी रूचि कौन सी शासन व्यवस्था अच्छी होगी में नहीं वरन् राज्यों का संरक्षण कैसे होता है, इसमें थी। अत: उसने जिन तत्वों को राज–तंत्रात्मक व्यवस्था के लिए उपयुक्त माना, उन्हीं को उसने गणतन्त्रात्मकता के लिए भी जरूरी ठहराया।

8. इकाईगत अभ्यास कार्य :

(1) मैकियावली राजनीति के नये विज्ञान का जन्मदाता था।" इस कथन के पक्ष या विपदा में तर्क दीजिए।

(2) मैकियावली के मानव प्रकृति एवं नैतिकता के विषयक विचारों का मूल्यांकन कीजिए।

(3) मैकियावली के विचार उसके जीवन की घटनाओं सें प्रचलित थे, समीक्षा कीजिये।

(4) 'मैकियावलीवाद' से आप क्या समझते है?

9. स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

(1) (अ) सही, (ब) गलत, (स) चालत (द) गलत

(2) (स)

(3) (द)

(4) (ब)

10. संदर्भ ग्रन्थ

पी. स्किनर तथा आर प्राइस : दि प्रिंस, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रैस, 1988

डेविड थॉमसन (सं) पोलिटिकल आइडियाज, लंदन, पैंगुबिन प्रेस, '1964

जॉन प्लेमिनेज : मैन एण्ड सोसाइटी, खण्ड 1, लंदन लॉगमैन 1965

निकोलो मैकियावली : डिस्कोर्सेज जे बॉकर द्वारा अनुवादित, दो खण्ड लंदन, राउटलेज एण्ड केगन पॉल, 1975

जेन्सन, डि लेंमर (सं.) मैकियावली : सिनिक पेट्रियट और पोलिटिकल साइन्टिस्ट, वेस्टन, डी. सी. हीथ, 1960

आई. बर्लिन एगेन्स्ट दि करेन्ट : ऐसेज इन दि हिस्ट्री ऑफ आइडियाज लंदन, होगार्थ प्रेस, 1980 में प्रकाशित लेख "दि ओरिजिनेलिटी ऑफ मैकियावली"

जे.जी.ए. पोकाक, मैकयावलियन मूवमेन्ट, प्रिन्सटन, 1975

इकाई–9

हॉब्स : निरंकुश राज्य

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. प्राकृतिक अवस्था
4. हॉब्स के राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत संविदा का स्वरूप
5. सम्प्रभुता
6. व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं अधिकार सिद्धान्त,
7. हाब्स : व्यक्तिगत व निरंकुशतावाद का जनक
8. आलोचना
9. इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य
10. संदर्भ ग्रन्थ

1. इस इकाई का उद्देश्य है:

(1) हॉब्स के राजनीतिक दर्शन की मुख्य विशेषताओं से अवगत कराना;

(2) राज्य की उत्पत्ति में "सामाजिक संविदा" सिद्धान्त की विवेचना तथा मुख्य पक्षों का बोध कराना; तथा

(3) हॉब्स के निरंकुश राज्य के विभिन्न पक्षों की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करना।

2. प्रस्तावना

राजनीतिक दर्शन में यह अवधारणा काफी प्राचीन काल से प्रचलित रही है कि राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक नही अपितु मनुष्यकृत है। एक समय ऐसा था जब मनुष्य बिना राज्य के रहते थे। इस दशा से तंग आकर उन्होंने किसी प्रकार मिल जुलकर संविदा द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया। सत्रहवीं सदी के महान दार्शनिक थॉमस हॉब्स ने इस मत का समर्थन करते हुए अपने मतों का प्रतिपादन किया जैसा कि लास्की का कहना है कि "राज्य के सिद्धान्त की प्रबुद्धता एक खास समय कें ही प्रसंग में स्थापित की जा सकती है। " ब्रिटेन में यह युद्ध (1941–49) सें उत्पन्न अराजकता व अत्याचारों को देखकर हॉब्स ने यह अनुभव किया कि शक्तिशाली शासन के अभाव में जीवन अरक्षित बन जाता है। अपने प्रमुख ग्रंथ ' 'लैवियाथन " (1651 ई) में वह किसी भी शक्तिशाली सरकार का समर्थन करने के लिए तत्पर प्रतीत होते है; वैसे उनका झुकाव राजतंत्र की ओर था। हॉब्स का नाम सामाजिकसंविदा सिद्धांत के साथ अभिन्न रूप सें संबंधित है। उन्होंने राजतंत्र के समर्थन कें लिए ' ' राजाओं के दैवी अधिकार " नामक मत का सहारा नही लिया वरन् सामाजिक संविदा के उस अस्त्र को अपनाया जिसको अभी तक राजाओं की सत्ता के विरोधी उपयोग में ला रहे थे।,

कुछ टीकाकारों का मानना है कि हॉब्स ने "लैवियाधन " ग्रंथ की रचना राजा को प्रसन्न करने के उद्देश्य से की थी। लेकिन सच्चाई तो यह है कि हाँब्स ने राजतंत्र का समर्थन उपयोगितावादी आधारों पर किया है। मनुष्य स्वभाव मे भय तथा स्वार्थ का अन्धकारमय चित्रण हॉब्स के निरंकुश राजतंत्र के समर्थन की आवश्यकता को स्पष्ट करता है। इसी कारण उन्हें ' 'भय से आतंकित दार्शनिक " भी कह दिया गया है। राजनीतिक सिद्धान्तकारो के सम्मुख कुछ चिरस्थायी समस्याएं रही है, जैसे कि मनुष्य क्या है? राजा क्या है? मनुष्य को राज की आज्ञाओं का पालन क्यों करना चाहिये? बिना इन सवालों के कोई दर्शन राजनीतिक दर्शन नहीं हो सकता। हॉब्स ने अपने राजनीतिक दर्शन मे इन सवालों पर विचार किया है। हॉब्स के निरंकुश राज्य के सिद्धांत को जानने के लिए इन सभी सवालों का परीक्षण करना आवश्यक हो जता है।

3. प्राकृतिक अवस्था

हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था को बड़ी दयनीय बतलाया है। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य लगातार संघर्ष करता रहता है। वास्तव में हॉब्स के राजनीतिक दर्शन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मानव स्वभाव या प्रकृति के विश्लेषण को केन्द्र बिन्दु बनाया गया है। हॉप्स के अनुसार मनुष्य स्वभाव सें स्वार्थी व आत्मकेन्द्रित प्राणी है। वह हमेशा सुख पाने की इच्छा करता है। दुखदायी परिस्थितियों से वह हमेशा दूर रहने का प्रयास करता है। इस सुख की प्राप्ति के लिए वह दूसरों पर अधिकार जमाना चाहता है। उसें इस बात का अनुभव होता है कि शक्ति द्वारा ही सुख प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन वह दूसरों पर अपना अधिकार नहीं जमा सकता क्योंकि हॉब्स कें अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे, सभी मनुष्य शारीरिक व मानसिक शक्ति में करीब करीब बराबर होते है। अभिप्राय यह है कि सब मिलाकर व्यक्तियों में एक प्राकृतिक समानता है अर्थात न कोई किसी से कम है और न किसी से अधिक सुख प्राप्ति के मार्ग में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि स्वयं उसी के समान सभी व्यक्ति सुख –की खोज मे व्यस्त हैं। इसके परिणाम स्वरूप आपस में लगातार स्पर्धा बनी रहती है। लोग एक दूसरे से डरते है। फिर भी एक दूसरे से लड़ते है। संघर्ष की प्रवृत्ति असुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे का दुश्मन होता है। स्पर्धा, आत्मविश्वास की कमी तथा यश कामना–ये तीनों कारण असुरक्षा के लिए उत्तरदायी होते है। हॉब्स कें अनुसार इन स्थितियों के रहते मनुष्य का जीवन "एकाकी, दरिद्र, गन्दा, बर्बर तथा अल्प हो जाता है। अच्छे बुरे और न्याय–अन्याय की कोई पहचान नहीं होती। हर मनुष्य यह अनुभव करता है कि शक्ति के आधार पर जीवन को, सुरक्षित रखा जा सकता है। इस अवस्था में शक्ति व कपट दो ही गुण प्रमुख माने जाते है। जीवन में न कोई कला होंती है, न कोई साहित्य, न कोई शांति, न सुरक्षा। संघर्षों के नियंत्रण के लिए कोई नियम कानून नहीं होते होंब्स का यह अनुमान है कि मनुष्य इन्हीं परिस्थितियों से आरम्भ करके आगे बढ़ा है। सम्भवत: हॉब्स यह दर्शाना चाहते है कि यदि देश में बहुत लम्बे समय तक कोई व्यवस्थित सत्ता या सरकार न रहे तो इस असहनीय दशा से छुटकारा पाना बहुत मुश्किल हो सकता है।

प्राकृतिक नियम

हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को शांतिपूर्ण जीवन सम्भव बनाने के लिए कुछ ' 'आचरण के नियम " या ' प्रशितक नियम' ' भी सुझाये है। वह इनको चतुरता या दूरदर्शिता की विधियां मानते है। हॉब्स के अनुसार मनुष्य के कुछ भावावेश उसे शांति की ओर प्रेरित करते हैं। मनुष्य का विवेक उसे सदैव प्राक्रेटिक अवस्था की असहनीय स्थिति से छुटकारा पाने के लिए प्रेरित करता है। मृत्यु का भय तथा सुख प्राप्ति की लालसा उसे इन प्राकृतिक नियमों का आचरण करनें कें लिए मजबूर करती रहती है। होंब्स के अनुसार ये नियम अपरिवर्तनीय तथा शाश्वत होते है। बिना इनके आचरण के सरकार कायम होने पर कोई नैतिकता तथा जिम्मेदारी की भावना का विकास नही हो सकता। इन नियमों का सार यह है कि जैसे भी सम्भव हों मनुष्य को अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिये क्योंकि यह एक प्राकृतिक अधिकार तथा स्वतंत्रता भी है। ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जिससे प्राण हानि का भय उत्त्पन होता हो। हॉब्ज ने कई ऐसे नियमों की चर्चा की है किन्तु इनमें कुछ नियम प्रमुख है। प्रकृति की पहली विधि यह है कि मनुष्य को शांति बनाये रखने का पूर्ण प्रयास करना चाहिये। ऐसा सम्भव न होने पर भी उसे अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिये। दूसरी विधि यह है कि मनुष्य को चाहिये कि जैसा दूसरे उसके प्रति व्यवहार करें वैसा ही व्यवहार स्वयं वह दूसरों के प्रति भी करे। मनुष्य को दूसरों कें साथ मिलकर अपने प्रक्रतिक अधिकारों को त्याग ने के लिए भी तैयार रहना चाहिये। तीसरी विधि यह है कि मनुष्य को कृतज्ञ होना चाहिये अर्थात भलाई कें बदले भलाई करनी चाहिये। चौथी तथा महत्वपूर्ण विधि यह है कि मनुष्य जों भी प्रसंविदा बनाते हैं उन्हें उसका पालन करना चाहिये। हॉब्स इन नियमों की चर्चा के दौरान यह स्पष्ट कर देते हैं कि व्यक्ति कोई ऐसी प्रसंविदा नहीं बना सकता जिसकी शर्त यह हो कि वह आत्मरक्षा नहीं करेगा क्योंकि ऐसी प्रसंविदा अवैध होगी। कुछ टीकाकारों का कहना है कि हॉब्स के विचार में कर्त्तव्य और स्वार्थ एक हो जाते है। प्रो. सैबाइन का कहना हें कि प्राकृतिक नियम मूलत: सामाजिक नैतिकता के सिद्धांत हैं क्योंकि ये मनुष्य की मनोवैज्ञानिक कार्य शक्ति से सभ्यता कें कानूनों व नैतिकता के मूल्यों की तरफ कदम बढ़ाने को सम्भव बनाते, हैं।

4. हॉब्स के राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त या संविदा का स्वरूप

हॉब्स के अनुसार मनुष्यों के, लिए विवेकजन्य नियमों का आचरण करना बहुत कठिन होता है क्योंकि मनुष्य के भावावेशों को नियंत्रित नहीं किया जा सकता इस विषय में प्रो. जोन्स का कहना है कि हॉब्स द्वारा दिये गए तर्क दो स्तरों को प्रदर्शित करते है। पहला यह कि मनुष्य प्राकृतिक स्वभाव उग्र व अदूरदर्शी होता है जिसके फलस्वरूप उसे इच्छा से इन नियमो का आचरण करवाने के लिए एक सर्वशक्तिमान सम्प्रभु की आवश्यकता होती है। " हॉब्स का अनुमान यह है कि यदि विवेक को सहायता देनें के लिए ' 'शक्ति " भी साथ में हो तो काम चल सकता है। ऐसी शक्ति सामाजिक संविदा द्वारा उत्त्पन की जा सकती है। हॉब्स केवल शक्ति को ही इसका आधार नहीं मानते बल्कि वह इस सत्य को भी बतलाना चाहते हैं कि इसका आधार बहुत कुछ जनता की इच्छा पर भी निर्भर है। यदि सभी मनुष्य विवेकपूर्ण आचरण करें तथा इन नियमों का अनुपालन करे और अपनी सुरक्षा व शान्ति के लिए सामाजिक संविदा द्वारा अपनी प्राकृतिक शक्तियों को एक सामान्य व्यक्ति या व्यक्ति–समूह को सौंपने कें लिए तैयार हो तो समस्या का समाधान हो सकता है। इस वृहत् सर्वोच्च सत्ता की उत्पत्ति से

ही इस संविदा को लागू किया जा सकता है। हॉब्स का विचार है कि यह संविदा प्राकृतिक अवस्था को पार करने वाले मनुष्यों कें बीच होती है। यह संविदा जनता व शासन के बीच नहीं है बल्कि इसे लोगों ने स्वयं आपस में शासक नियुक्त करने के लिए बनाया है। हॉब्स कें अनुसार इस व्यवस्था के अन्तर्गत हर व्यक्ति अपनी प्राकृतिक शक्ति का परित्याग करते हुए एक दूसरे से, यह कहता है ' 'मैं अपने ऊपर अपने शासन के अधिकार को इस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समुदाय को इस शर्त पर देता हूँ कि आप सब भी अपने अधिकारों को उसे सौंप दे। और जिस प्रकार मैं इस प्राधिकार को दें रहा हूँ उसी प्रकार आप सब भी उसे सभी कार्यों के लिए प्राधिकार दे दें। " हॉब्स के अनुसार सामाजिक संविदा से उत्पन्न सत्ताधारी के साथ भाग लेने वाले व्यक्तियों की कोई शर्त नही होती। वस्तुत : जिस व्यक्ति अथवा व्यक्ति–समूह को सत्ता सौंपी जाती है वह संविदा में भाग नहीं लेता। वह केवल सत्ता प्राप्त करता है तथा उसके बदलें में किसी प्रकार वचनबद्ध नहीं होता। मनुष्य एक बार अपनी प्राकृतिक शक्ति को हस्तांतरित करने के पश्चात न तो इस संविदा को भंग कर सकता है और न ही उससे अपने अधिकार को वापस ही ले सकता है। यह नवनिर्मित सत्ता इन व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी नही होती। सलाधारी भविष्य में जो भी कार्य सम्पादन करता है वह सारे व्यक्तियों द्वारा किये गए कार्य मानें जाते है। संविदा बनाते समय ही यह बात मान ली जाती है, अतएव सत्ता की वैधता के संबंध में कोई भी प्रश्न नही उठाया जा सकता। सत्ता की आज्ञा का पालन किया ही जाना चाहिये। सत्ता का किसी भी रूप में विरोध संविदा के विरूद्ध है। ऐसा होने पर व्यक्ति पुन: प्राकृतिक अवस्था में एकाकी जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हो जाएंगे। सामाजिक संविदा का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह है कि एकाकी व संघार्ग्मय जीवन वयतीत करने वाले व्यक्ति एक राज्य में संगठित हों जाते हैं। हॉब्स के अनुसार इस संविदा की वैधता केवल संविदा की शर्तों पर ही निर्भर नहीं करती। उसे मनवाने के लिए एक वृहत्काय राजनीतिक सत्ता (लेवियाथन) भी उत्पन्न होती है और जो भी व्यक्ति अपने वचनों को भंग कर इस संविदा कों तोड़ने अथवा राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस करता है उसें इसके लिए दण्ड देने की क्षमता भी इस 'लेवियाथन ' में निहित होती है। जैसा कि प्रो. मैक्सी का कहना है, हॉब्स के लिए राजनीतिक समाज सामाजिक संविदा के फलस्वरूप बनाई गई एक संस्था हैं जो मनुष्य को हिंसा के मार्ग से दूर रहने की विवशता का परिणाम है। यह स्थिति अभियंत्रित (Engineered) स्वतंत्रता का ही फल है। शासक इस संविदा का भागीदार न होकर एक लक्ष्य के रूप में प्रकट होता है जिसको सभी व्यक्तियों द्वारा इसके तहत अपने दायित्वों को निभाने के लिए सभी अधिकार व शक्तियां प्रदान की जाती होती है।

5. सम्प्रभुता:

हॉब्स सामाजिक संविदा में ही प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों की समस्याओं का हल पाते है। इस संविदा के बनने सें जों राज्य बनता है उसमें एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता निहित होती है जो कि एक समान सम्मति के रूप में समाज पर शासन करती है। हॉब्स के अनुसार शक्ति के अभाव में संविदा मात्र शब्दों के रूप में ही विद्यमान रहती है। इस प्रकार संविदा में एक सम्मति ही सभी लोगों की व्यक्तिगत सम्मतियों का स्थान लेकर उनका प्रतिनिधित्व करती है। हॉब्स ने यथार्थ व्यक्ति और कल्पित व्यक्ति के बीच वैधिक भेद किया

है। अधिकार व जिम्मेदारियों वाली सामूहिक संस्था एक कल्पित व्यक्ति है। यदि विभिन्न सम्मतियाँ मिलकर एक ही व्यक्ति को नियुक्त करें तो बहुत सी सम्मतिया मिलकर एक हो जाती हैं। उनका प्रतिनिधि उनकी अनेक सम्मतियो की ओर सें बोलता तथा कार्य करता है। यही समाज में एकता के लिए एकमात्र साधन है।

इस प्रकार हॉब्स कें सिद्धान्त में अनेक सम्मतियों का स्थान एक सम्मति ले लेती है। हॉब्स के अनुसार बिना एक सम्मति या सत्ता के राज्य नहीं बन सकता। सत्ता चाहे किसी के हाथ में रहे वह दूर्ग अविभाज्य और अदेय होती हे। सत्ता सर्वोच्च ही नही असीमित भी होती है। इस प्रकार संप्रभुता का सार पूरे समुदाय की ओर से निर्धारित करने कें अधिकार में ही निहित होता है। सत्ता कानूनों कें निर्माण तथा पालन करवाने के अधिकार के रूप में प्रकट होती है। सत्ताधारी द्वारा बनाये गए कानूनों व अधिकारों को सीमित नही किया जा सकता क्योंकि राज्य के बनने सें नैतिकता की कोई भावना नहीं होती और संविदा का पालन करना ही न्याय हैं। इसलिए नैतिक रूप सें राजसत्ता असीमित होती है। नैतिक आधारों पर राजसत्ता का विरोध नहीं किया जा सकता क्योंकि सत्ताधारी स्वयं नैतिकता को निर्धारित करता है। हॉब्स का कहना है कि सत्ताधारी या सम्प्रभुता में ही राज्य के मौलिक तत्व निहित होते है। शासन एक, कुछ या अनेक हों सकते है। लेकिन वह स्वयं एक ही शासक का होना ठीक समझते है क्योंकि उनके अनुसार राजतंत्र कें कई लाभ है।

हॉब्स कें अनुसार शासक सर्वोच्च विधायक होता है। शासक द्वारा प्रक्रतिक नियमों की व्याख्या ही सर्वोपरि एवं अधिकृत होती है। सम्प्रभुता की आज्ञा ही कानून होती है। सम्पभु के अधिकार ही उसके कर्त्तव्य होते है। राजकीय सत्ता कभी कोई कानूनी या नैतिक अपराध नहीं कर सकती। हॉब्स विभिन्न प्रकार कें विचारों और सिद्धांतों के खुले प्रचार के पक्ष में नहीं हैं। वे विचारों तथा विश्वासों के संगठनों के नियंत्रण का अधिकार भी सत्ताधारी को देते हैं। बिना राजा की आज्ञा कें किसी भी तरह के समूह का दल समाज में नही रह सकता क्यूरी हॉब्स के अनुसार उसके क्रियाकलाप समाज की एकता के लिए हानिकारक हो सकते हैं। सत्ताधारी उन सभी संगठित विचारों तथा मतों पर रोक लगा सकता है जिन्हें वह शांति, व्यवस्था व सत्ता के प्रयोग के लिए मुख्य अड़चन समझता हो। धर्म के क्षेत्र में भी राजा सर्वोपरि है क्योंकि समाज में विभिन्न आस्थाओं वे कारण मतभेद हो सकते है जिनके फलस्वरूप राज्य की सुरक्षा व शांति के खतरे में पड़ने की आशंका हों सकती है। इसीलिए हॉब्स ने सत्ताधारी को संगठित चर्च का प्रधान होने का भी विशेषाधिकार दिया है। राजा कों ' 'दैवीय नियमों " की व्याख्या करने का अधिकार होना चाहिये। राज्य में चर्च जैसे धार्मिक संगठनों का प्रयोग राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होना चाहिये। यह स्पष्ट है कि इस संबंध में हॉब्स मैकियावली से भी आगे निकल जाते है क्योंकि उन्होंने धार्मिक संगठन जैसे चर्च को राज्य सत्ता कें अधीन करने का विचार दिया है। राज्य अपने कामों के लिए सिर्फ परमात्मा के प्रति ही जिम्मेदार है। राजा से भले ही नैतिक भूलें हो सकती हैं पर वैधिक अन्याय उससें हो ही नहीं सकता। हॉब्स का यह मानना इस सिद्धांत पर आधारित है जिसके अनुसार राज्य कोई गलती कर ही नहीं सकता है। उसको किसी 'भी प्रकार के वायदों से नहीं बाधा जा सकता। अन्तिम विधि बनाने वाला होने के कारण वह विधि से ऊपर है। समाज में सिद्धांत व धार्मिक विश्वास की प्रचलनता को वही निर्धारित करता है। इस प्रकार हॉब्स की संप्रभुता का मूलभूत गुण उसकी निरंकुशता है क्योंकि राज्य की सम्पूर्ण

प्रभुत्ता समान सत्ता पर कोई कानूनी, नैतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते। इस प्रकार हॉब्स ने सम्प्रभुता को वह सभी अधिकार प्रदान किये है जिसने उसे उन सभी प्रतिबन्धों सें मुक्ति दिला दी जिन्हें बोंदा ने संप्रभुता की सीमाओं कें रूप में प्रतिपादित किया था।

इस प्रकार हॉब्स का असली उद्देश्य शाही राजतंत्र का समर्थन करना था। उन्होंने राज्य व सरकारों कें बीच में कोई मतभेद नही किया है। उनके अनुसार वास्तविक सरकार ही वैधिक सरकार है। सरकार के भंग होने, का अर्थ है राज्य का भंग होना तथा पुन: प्राकर्तिक अवस्था वाली स्थिति में पहुंच जाना। हॉब्स के समय में राजतंत्र के समर्थक इस मन से सहमत न हो पाये क्योंकि ' 'दैवीय अधिकारों '' के आधार पर राजा की सत्ता को बनाये रखना अधिक आसान था। वैसे भी यदि सामाजिक संविदा द्वारा राजा को सत्ता सौपा जाता है तो वही व्यक्ति समुदाय दूसरी संविदा द्वारा कुछ अनेक तथा अन्य व्यक्तियों कों भी सत्ता सॉंप सकता है। यद्यपि हॉब्स ने संविदा को अपरिवर्तनीय बनाने का मत रखा है जिसके अनुसार कोई नई संविदा बिना राजा की आज्ञा के उसके विरोध में इस्तेमाल नहीं की जा सकती। हॉब्स ने विद्रोह करने का अधिकार भी के समूहों को नही दिया है। फिर भी हॉब्स राजतंत्र समर्थकों व विरोधियों को सन्तुष्ट करने में सफल नहीं हो पाये।

6. व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकार सिद्धान्त

हॉब्स कें राज्य में मनुष्यों को वैधानिक अधिकार व स्वतंत्रता प्राप्त हैं अर्थात जहां कानून की रोक नहीं है वहां व्यक्ति पूर्णत: स्वतंत्र हैं। वैसे भी कानून जो कि सम्प्रभु का आदेश होता है, व्यक्ति की स्वतंत्रता के मार्ग में बाधा नहीं समझा जा सकता। व्यक्तिगत स्वतंत्रता संविदा के कानूनों के सम्बन्ध मे ही सोची जा सकती है। संविदा बनाते समय व्यक्ति या व्यक्ति समूह ने स्वेच्छा सें सभी प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग किया था। लेकिन हॉब्स मनुष्य कों ' 'जीवन का अधिकार '' देता है। उसके अनुसार व्यक्ति का यही एक ऐसा प्राकृतिक अधिकार है जिसे वह कभी भी समर्पित नहीं कर सकता। यदि किसी भी राजाज्ञा सें व्यक्ति का जीवन संकट में पड़ता हो या उसे शारीरिक यातना सहनी पड सकती हो तो ऐसी स्थिति में वह आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं है। जहां भी विधि को कोई प्रतिबन्ध नही है वहां प्रजा के अपने प्राकृतिक ':अधिकार बने रहते है। वैसे भी कानूनों का पालन व्यक्ति कें भले के लिए ही होना है क्यों की उसके जीवन को सुरक्षित बनाते है। वास्तव में हॉब्स की स्वतंत्रता एक नकारात्मक स्वतन्त्रता है क्योंकि जब तक संप्रभु किसी कार्य के लिए प्रतिबन्ध नही लगाता तब तक मनुष्य स्वतंत्र है। इसका अर्थ यह है कि संप्रभु किसी भी समय हस्तक्षेप करके प्रजा की स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है हॉब्स के विचार में सत्ता व स्वतंत्रता एक दूसरे के विरोधी है। यह बात संविदा में ही निहित है कि व्यक्ति के आज्ञापालन की कभी–कभी विशेष हालतों में सीमायें होती है। प्रो. मैक्सी की टिप्पणी इसको इस तरह स्पष्ट करती है ' 'मनुष्य द्वारा अपने भावावेशों की स्वतंत्रता उसे इस बात पर मजबूर करती है कि वह संप्रभु के समक्ष अपनी इच्छाओं का विरोध करे। जब अपनी इच्छाओं की पूर्ति की प्रक्रिया में सम्प्रभु की इच्छाओं से अन्तर्विरोध होता है तो इस दशा में संप्रभु की इच्छा सर्वशक्तिशाली समझी जायेगी। ''

इस प्रकार हॉब्स व्यक्ति को विद्रोह करने की स्वतंत्रता भी नही देते है क्योंकि उनके अनुसार सम्प्रभु की शक्तियां असीमित है। हॉब्स मनुष्य या समुदायों से सम्प्रभु की हर दशा में आज्ञा पालन की आशा करते है। यद्यपि वह यह मानते है कि दो कारणों से प्रजा संप्रभु की सत्ता का विरोध कर सकती है एक तो यदि राज्यज्ञा से उनका जीवन खतरे में पड़ता हों तथा दूसरी तब जब किन्हीं कारणों से सत्ताधारी इतना कमजोर हो जाय कि प्रजा की आत्मरक्षा ही नही कर सके जो कि संविदा बनाने का मुख्य लक्ष्य है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति तथा व्यक्ति समूह इस बात के लिए स्वतंत्र होंगे कि वे अपनी राजभक्ति हस्तान्तरित कर नये राज्य का चुनाव कर सकें। प्रो. सैबाइन का कहना है कि ' 'सरकार के लिए यह जरूरी है कि वह शासन करे। यदि विद्रोह होता है और संप्रभु अपनी शक्तियों कों खो बैठता है तो जाहिर है कि वह संप्रभु सम्प्रभु नही रह सकता तथा वह प्रजा, प्रजा नहीं रह सकती। हॉब्स के सिद्धान्त में बिना शक्ति के कोई वैध दावा नहीं हो सकता। इस तथ्य ने ही राजतंत्र समर्थकों को काफी चोट पहुंचाई। " हॉब्स इस बात के तनिक भी चिन्तित नहीं दिखाई देते कि विरोधी सरकार वैध है अथवा नही। वह सदैव ही किसी भी ऐसी सरकार का समर्थन करने के लिए तैयार है जो शांति तथा सुरक्षा बनाये रखने के साथ जीवन सुरक्षा का आश्वासन दे सकें।

7. हॉब्स : व्यक्तिवाद व निरंकुशतावाद का जनक

टीकाकारों का कहना है कि हॉब्य व्यक्तिवादी दार्शनिक के रूप में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं तथा उनके निष्कर्ष निरंकुशतावाद की चरम सीमा पर पहुंचते है। उनके राज्य का सिद्धान्त एक असीमित, अनियंत्रित व सर्वोच्च संप्रभुता को जन्म देता है। हॉब्स के अनुसार सभ्य समाज के बनने सें पहले तथा उसके बाद मनुष्य की सुरक्षा व सुख महत्त्वपूर्ण है। हॉब्स का यह सिद्धान्त उपयोगितावाद की उत्पत्ति के लिए एक आधारभूत कदम सिद्ध हुआ। प्रोफेसर वेंपर का मत है कि लेवियाथन या वृहत्काय सम्प्रभु मात्र सम्प्रभूता के सिद्धान्त का सशक्त प्रतिपाद ही नहीं है वरन् यह उसके व्यक्तिवाद की अवधारणा की शक्तिशाली व्याख्या भी है। "

हॉब्स के सैद्धान्तिक आधारों का परिणाम निरकुंश सम्प्रभु है। हॉब्स का सम्प्रभु या निरंकुश सरकार का विचार प्रजा की सम्मति पर आधारित है क्यों कि व्यक्ति समूह स्वेच्छा से अपने प्राकृतिक अधिकार का परित्याग कर अपनी सारी शक्तियां सम्प्रभु सौंप देते है। इसी आधार पर लेवियाथन को प्रजातंत्र पर पहला प्रजातांत्रिक आघात माना जाता है। यद्यपि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की मानसिक व मनोवैज्ञानिक दशा का जो चित्रण किया है उसके आधार पर ही राज्य की शक्ति तथा कानूनों के बल को वैधता प्रदान करने की कोशिश की गई है। इसके बावजूद हॉब्स को प्रजातंत्र कों समर्थक नहीं माना जा सकता क्योंकि हॉब्स का शासक जनता के प्रति उत्तरदायी नही है। साथ ही साथ वह विधि से भी ऊपर है। इससे स्पष्ट है कि हॉब्स व्यक्तिवादी विचारक होने के नाते 'एक व्यक्ति' द्वारा चलाये जाने वाले राजतंत्र के समर्थन में ही आगे रहे। हॉब्स ने राज्य की इच्छा व शासक की इच्छा को एक माना जिसके, कारण उन्हें राज्य व सरकार के बीच भेद करने में कठिनाई हुई। उन्होंने तो यहां तक कह डाला है कि शासक के मरने के बाद राज्य समाप्त हो जात है।

8. आलोचना

आलोचकों ने हॉब्स के विचारों का कड़ा विरोध किया है। उनका यह मत है कि हॉब्स कें विचारों में इतना अंतर्विरोध है कि उन्हें स्वीकार करना कठिन हो जाता है। उनके सिद्धान्त इतिहास तथा मनोविज्ञान कें भी विरूद्ध प्रतीत होते है। विशेषतौर पर उनकी राज्य की व्याख्या पूर्णत: संतोषजनक नहीं है।

हॉब्स के सबसे कटु आलोचक प्रो,. वोगन का कहना है कि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों की जिस दयनीय स्थिति का चित्रण किया है उसके अनुसार यह असम्भव सा लगता है कि यकायक संविदा द्वारा राज्य बन जाने पर मनुष्य स्वभाव रातों–रात बदल जाएगा। संविदा से पहले मानव स्वभाव भावावेश प्रधान तथा संघर्षशील प्रकट है। संविदा के बाद अचानक ही मनुष्य विवेकशील हो जाते है। हॉब्स का यह चित्रण ऐतिहासक नही है क्योंकि सम्भवत: उसने समकालीन परिस्थितियों के दोषों के आधार पर ' 'प्राकृतिक अवस्था " का चित्रण किया है जो कि ऐतिहासिक ज्ञान से मेल नही खाता।

प्रो. सेबाइन का मानना है कि अगर मनुष्य असभ्य व असामाजिक होता जैसा कि हॉब्स ने चित्रित किया है तो वह सरकार बनाने कें योग्य कभी नही हो सकता। अगर मानव स्वभाव सरकार बनाने के लिए पर्याप्त विवेकशील होता तो व्यक्ति बिना सरकार के रह ही न रहे होते। मानव स्वभाव वस्तुत : ना तो इतना विवेकशील ही है और ना ही इतना अविवेकी जैसा कि हॉब्स समझते है। यह सब तथ्य एक विरोधाभास को ही दर्शाते है।

प्राकृतिक नियमों के संबंध में भी हॉब्स की धारणा भ्रांतिपूर्ण लगती है। एक ओर तो हॉब्स कहते है कि प्राकृतिक अवस्था में —न नैतिकता होती हैं न कानून। प्राकृतिक नियम विवेक पर आधारित होते है। दूसरी तरफ हॉब्स मनुष्यों द्वारा प्रसंविदा बनने पर उसका पालन करने को कहते है जो कि विवेक पर न आधारित होकर नैतिकता पर आधारित है। हॉब्स नैतिकता की उपस्थिति को इन्कार कर चुके होते है पर प्राकृतिक नियम कें रूप में नैतिकता को फिर उपस्थित कर देते है। इसके बिना वह राज्य की कल्पना भी नहीं कर पाते।

सम्प्रभुता के सम्बन्ध में भी हॉब्स के विचार तर्कसंगत नही है। जैसा कि प्रो. जोन्स कहते है यदि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में पशु की भांति जीवन जीते है तो उनके पारस्परिक हितों के साथ शान्ति से रहने के प्रयास कभी सम्भव नहीं हों सकते। हॉब्स के इस धर्मसंकट को स्पष्ट करते हु ए प्रो. जोन्स का कहना है कि मनुष्य या तो पशु है और या नही है। अगर है तो वह राज्य का निर्माण नही कर सकता। और अगर नहीं है तो शक्ति ही केवल उसके स्वभाव का कानून नहीं हो सकती। अगर मनुष्य विवेकशील तथा दूरदृष्टि रखते हैं तो उन्हें एक निरंकुश व बर्बर सम्प्रभु की आवश्यकता नही है। अगर वह भावावेशों का गुलाम हैं तो वह स्वतंत्र व स्वेच्छा से आपस में सम्प्रभु की उत्पत्ति के लिए समझौता करने में समर्थ ही हो नहीं सकता।

हॉब्स द्वारा मनुष्यों को जीवन संकट के दौरान विद्रोह करने का अधिकार उसकी निरंकुश सम्प्रभुता के विचार से मेल नहीं खाता है। यदि प्रजा को विद्रोह का अधिकार है तो इस परिस्थिति में निरंकुश संप्रभुता का विफल होना आवश्यक है। यदि सम्प्रभुता असीमित हैं तो संप्रभु की शक्तियों कों किसी भी दशा में सीमित नही किया जा सकता। दोनों विचार आपस में असंगत तथा इसलिए एक साथ विद्यमान नही रह सकते। हाब्स के विचारों से यह स्पष्ट होता

है कि उनके समाज संबंधी विचार भी भ्रमपूर्ण है। प्रो वेगन कहते है कि हॉब्स इस बात पर विश्वास दिलाने की कोशिश करतें है कि व्यक्तियों में संबंधों की मूल कड़ी सामूहिक भय होना है जो कि पुन: प्राकृतिक अवस्था में पहुंचने की याद दिलाता रहता है। वास्तव में हॉब्स के राज्य में सामाजिक पारस्परिक सहयोग के दर्शन नहीं हो सकते क्योंकि समाज विभिन्न संबंधों के ताने बाने में बंधें व्यक्तियों का समूह ही होता है। हॉब्स के समाज में व्यक्तियों के संबंधों का एकमात्र आधार उनके अपने जीवन की सुरक्षा के लिए सत्ताधारी की आज्ञा पालन की 'भावना है। इस प्रकार हॉब्स का सिद्धान्त जिस राज्य को जन्म देता है उसमें अन्य समस्त इच्छाओं को कुचलकर व्यक्तियों पर केवल सम्पभु की इच्छा ही लाद दी जाती है। निहितार्थ है कि सम्प्रभु की इच्छा पूर्णत: निरंकुश व लोकविरोधी हो सकती है। इस प्रकार हॉब्स का निरंकुशता को खुला प्रोत्साहन व्यक्ति को शासक की दया पर छोड़े रहता है। इन्हीं कारणों से हॉब्स की दार्शनिक महानता के बावजूद उसके विचारों व निष्कर्षों कों आदरपूर्वक स्वीकार नहीं किया जा सकता।

9. इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

थॉमस हॉब्स ने अपने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत के प्रतिपादन के लिए ' 'सामाजिक संविदा " सिद्धांत का सहारा लिया। उनके अनुसार राज्य की उत्पत्ति प्रकर्तिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों द्वारा सामाजिक संविदा बनाने के फलस्वरूप हुई। मनुष्य प्राकृतिक अवस्था की संघार्ग्रत तथा स्वार्थी जिन्दगी से छुटकारा पाकर शांतीपूर्वक रहना चाहते है। इसके लिए वे अपने सभी भावावेशों तथा प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर एक शक्तिशाली सम्प्रभू को जन्म देते हैं। यद्यपि प्राकृतिक अवस्था में आचरण के लिए कुछ प्राकृतिक नियम होते जरूर है पर फिर भी उसमें हमेशा युद्ध की दशा बनी रहती है। सामाजिक संविदा में मनुष्य अपने ऊपर अपने शासन का विचार त्यागकर एक व्यवस्थित सरकार की तरफ अग्रसित होते है। संविदा के फलस्वरूप जो संप्रभूत उत्पन्न होता है वह हॉब्स के अनुसार सर्वोच्च व असीमित शक्तियों वाला होता है। वास्तव में हॉब्स ने सत्ताधारी को वह सब धार्मिक, राजनीतिक व आर्थिक अधिकार दिये हैं जिसके कारण हॉब्स के सम्प्रभू के निरंकुश शासक कहा जा सकता है। वैसे भी हॉब्स के विचार में निरंकुश राजतंत्र की उपस्थिति की संभावना नजर आ ही जाती है जो कि उन्होंने अपने समय के दौरान ब्रिटेन में हो रहे गृह युद्ध के फलस्वरूप ही विकसित की थी। हॉब्स ने राजतंत्र के समर्थन के लिए "दैवीय शक्ति " सिद्धान्त का सहारा न लेकर ' 'सामाजिक संविदा " सिद्धान्त का सहारा लिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने सर्वसम्मति सें राज्य की उत्पत्ति की कल्पना की। दूसरी ओर उन्होंने राजतंत्र या सत्ताधारी को इतनी असीमित शक्तियां दी जिसके फलस्वरूप मनुष्य समुदाय की सर्वसम्मति का कोई अर्थ नही रह गया। सत्ताधारी कभी भी मानव स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है। हॉब्स प्रजा को केवल जीवन संकट के समय विद्रोह करने का अधिकार देते हैं लेकिन दूसरी तरफ संप्रभु को निरंकुश बनाने की बात भी कहते है जो कि एक विरोधाभास हैं। इन्हीं कारणों से हॉब्स के राजनीतिक दर्शन की महानता कों समझते हुए भी उनके विचारों तथा निष्कर्षों को प्रजातांत्रिक विचारों की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

10. अभ्यास कार्य

1. हॉब्स के ' 'सामाजिक संविदा " के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिये।
2. हॉब्स का लेवियाथन ' प्रशिक्षक नहीं है वरन एक के रूप में है " इस कथन के आधार पर हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धांत की विवेचना कीजिये।
3. हॉब्स कों निरंकुश शासन का जनक कहा जाता है। इसकी सत्यता की जांच कीजिए।

11. संदर्भ ग्रंथ

सेबाईन, ए हिस्ट्री आफ पॉलिटिकल थ्योरी

वेपर, पोलोटिकल थॉट

वोगन, स्टडीज इन द हिस्ट्री आफ पॉलिटिकल फिलॉसफी खण्ड– 2

इंबेन्स्टीन, ग्रेट पॉलिटिकल थींकर्स

मैक्सी, पॉलिटिकल फिलॉसफी

हॉब्स, लेवियाथन

इकाई - 10
जॉन लॉक

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. जॉन लॉक: जीवन
4. लेखन
5. राजनीतिक चिन्तन
    5.1 मानव प्रकृति एवं प्राकृतिक अवस्था
    5.2 समाज एवं सरकार की स्थापना
    5.3 सरकार के प्रकार
    5.4 क्रान्ति का अधिकार या सम्प्रभुता की अवधारणा
    5.5 प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा
6. निष्कर्ष एवं सारांश
7. इकाई गत अभ्यास कार्य
8. स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
9. संदर्भ ग्रंथ

1. उद्देश्य

इस इकाई को पढ्ने के उपरान्त आप जान सकेंगे कि :–

(1) सामाजिक समझौतावादी – राजनीतिक सिद्धान्त में लॉक की क्या भूमिका रही है?

(2) प्राकृतिक अवस्था कैसी थी तथा उसे दूर करने के लिए जौ समझौता किया गया उसका स्वरूप क्या था?

(3) सरकार के अंग की प्रकृति क्या थी?

(4) लॉक ने सम्प्रभुता की क्या अवधारणा प्रतिपादित की?

(5) लॉक की प्राकृतिक अधिकारों की क्या अवधारणा थी?

2. प्रस्तावना

सन 1640 के इंग्लैण्ड के गृह युद्ध ने कई राजनीतिक सिद्धान्तों को प्रभावित किया है। इनमें हम हॉब्स के लेवियाथन के निरंकुशवाद, हेल्टिन तथा जॉन मिल्टन के गणतंत्रवाद, लिवलर्स तथा डिग्गर्स के उदारवाद एवं रेडिकलिsम ' को ले सकते है। गृह–युद्ध के उपरान्त शासन क्राउनवेल के अन्तर्गत आया। यह सरकार इतनी अलोकप्रिय थी कि उसके कारण गणतंत्र–सिद्धान्त की साख गिरने लगी। फलत: अंग्रेज पुन: स्थापना की ओर प्ररित होने लगे। किन्तु चार्ल्स द्वितीय की स्वीकृति का यह तात्पर्य नही था कि जनता निरंकुश राजतंत्र के

अधीन हो गयी हो। इस समय भी संसद महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही। चार्ल्स द्वितीय के पच्चीस वर्षो के शासन–काल (1660–1685) में तुलनात्मक रूप से घरेलू शान्ति विद्यमान रही। राज्य ने ऐसा कोई काम नही किया जिससे जनता की भावनाओं को ठेस पहुंचे। राज्य की शक्तियों में प्रमुख कमी तथा–संसद की प्रमुखता रक्तहीन क्रान्ति 1688 के द्वारा सम्भव हुई। संवैधानिक प्रावधानों द्वारा संसद की महत्ता को स्वीकृति प्रदान की गई। इन सिद्धान्तों को पहले से ही कई राजनीतिक दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं में प्रकट किया था। इनमें जॉन लॉक सबसे महत्वपूर्ण है।

3. जॉन लॉक : जीवन

जॉन लॉक का जन्म 29 अगस्त 1632 को वेंरिग्टन सोमरसेटशायर में हुआ। उसका परिवार गृह युद्ध में संसदीय समर्थक लोगों के साथ रहा। लॉक को उसके परिवार के प्रभाव कें कारण वेस्टमिन्जर स्कूल में प्रवेश मिल गया। इस समय इस स्कूल का प्रधान रिचर्ड बुस्वी था जो कि राजतंत्र समर्थक था। अत: लॉक को यहाँ अपने परिवार से पूर्णत: भिन्न पृष्ठभूमि एवं प्रभाव देखने को मिला। किन्तु रिचर्ड बुस्वी ने निरन्तर यह देखने की अपेक्षा की कि उसके विद्यार्थी किस विचारधारा या किस मान्यता को मानने वाले है। उसने अपने विद्यार्थियों में आलोचनात्मक तार्किकता विकसित की। उसने अपने परवर्ती उदारवाद की नींव वेस्टमिस्कर स्कूल में ही डाली। सन 1652 में लॉक को 19 वर्ष की आयु में क्राइस्ट चर्च कॉलेज, ऑक्सफोर्ड मे छात्रवृत्ति मिलि तथा उसने वहां प्रवेश लिया। वहां पर कुछ अध्ययनवेत्ता, विशेषकर चिकित्सा संकाय में, अनुभवात्मक पद्धति में लीन थे। उनका लॉक पर काफी प्रभाव पड़ा। लॉक की जीवन पर्यन्त चलने वाली चिकित्सा तथा विज्ञान की रूचि एवं अनुभवात्मकता की प्रवृत्ति इसी काल में विकसित हुई। लॉक यही यूनानी भाषा का प्राध्यापक बन गया, किन्तु सन 1665 में उसने सर वॉल्टर के नैतृत्व में बनें ब्रान्डनबर्ग के कूटनीतिक मिशन में सचिव की नौकरी ग्रहण करने,' पर ऑक्सफोर्ड में अध्यापन छोड़ दिया। यह कूटनीतिक जीवन बहुत अल्पकालिक रहा। परिणामस्वरूप वह ऑक्सफोर्ड जल्दी ही लौट गया तथा वहां चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करनें लगा।

ऑक्सफोर्ड मे रहते हुए लॉक की शेंफ्टसबरी सें मुलाकात हुई। लॉक के कालान्तर के लोक जीवन में शेफ्टसबरी पूरी तरह छाया रहा। सन 1667 में लॉक ने शेफ्टसबरी का निमन्त्रण स्वीकार करते हुए उसके व्यक्तिगत डॉक्टर के रूप में उसी कें पास लन्दन में रहना शुरू किया। शेफ्टसबरी ने राजतंत्र की पुन : स्थापना हेतु काम किया था तथा राज्य नें उसें पुरस्कृत करतें हुए लॉर्ड तथा प्रिवि कॉउन्सलर बना दिया। तद्वपरान्त उसने हिवद दल का गठन किया। टोरी दल इसके विरोध में अस्तित्व में आया। शेफ्टसबरी धार्मिक सहिष्णुता का व्यक्ति था। उसका मानना था कि धार्मिक असहिष्णुता से समाज मे भेद पैदा होते है और इसका व्यापार एवं वाणिज्य पर नकारात्मक असर पड़ता है। किन्तु फिर भी वह कैथोलिक विरोधी था। उसने 'एक्सकलुसिव एक्ट ' को उद्धृत करते हुए कहा कि किसी भी कैथोलिक को उत्तराधिकार का अधिकार नहीं दिया जा सकता। उसने 'डेयूक ऑफ मोनमाएथ ' (चार्ल्स द्वितीय का अवैधानिक पुत्र) को औचित्य प्रदान करने तथा उसे राज्य पद के योग्य मानने की अपील की। ये कुछ ऐसै

मुद्दे थे जिन्होंने शेंफ्टसबरी तथा राज्य में मतभेद पैदा कर दिए। फलत: कई बार शेफ्टसबरी को गिरफ्तार किया गया। अन्तत उसने भागकर हॉलैण्ड मे शरण ली। जहाँ उसकी सन 1683 में मृत्यु हो गई।

शेफ्टसबरी का निकट मित्र होने के कारण लॉक पर भी इस काल में संकट के बादल छाए रहे। इस कारण वह भी सन 1683 में भागकर हॉलैण्ड चला गया। इस उपरान्त इंग्लैण्ड में उत्तराधिकार को लेकर तेजी से घटना चक्र घूमा और अन्तत रक्तहीन क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। लॉक फरवरी 1689 में इंग्लैण्ड वापिस लौट आया तथा वहां उसनें अपील आयुक्त का पद ग्रहण किया। यहाँ लॉक पर धर्म विरोधी पूर्वाग्रह से ग्रसित होने का आरोप लगाया गया यद्यपि ये आरोप दुर्भाग्यपूर्ण एवं निराधार थे। लॉक धार्मिक मामलों में सहिष्णु तथा उदार मानसिकता का व्यक्ति था। धर्म–परायण व्यक्ति होने के कारण उसने इन आरोपों का शक्ति के साथ प्रत्युत्तर दिया। सन 1700 में लॉक ने आयुक्त पद से त्यागपद दे दिया। और अपना अन्तिम समय अध्ययन एवं लेखन में लगाया। लॉक की मृत्यु ओपटस में 28 अक्टूबर 1704 में हो गई।

4. लेखन

लॉक की प्रमुख रचनायें निम्नलिखित है :

एसेज़ कंसर्निंग हयूमन अंडरस्टैंडिंग, लेटर्स कंसर्निंग टॉलरेशन, थॉट कंसर्निंग एजुकेशन एसेज़ ऑर दि लॉ अँफ नेचर;" तथा टू ट्रीटाइसेज़ ऑफ सिविल गवर्नमेंट

'एसेज कंसर्निंग हयूमन अंडरस्टेडिग' सन 1690 में प्रकाशित हुई। यूरोपीय दर्शन शास्त्र में इस पुस्तक का महत्वपूर्ण स्थान है। यूरोप के कई दार्शनिकों जैसे बर्कले, ह्यूम, कांट आदि विचारकों पर इस पुस्तक का प्रमुख प्रभाव पड़ा। विचारक का मानना है कि लेटर्स कंसर्निंग टॉलरेशन' का प्रकाशन सन 1680–93 के बीच का है। 'थॉटस कंसर्निंग एजुकेशन'। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति पर लिखी गई एक पुस्तक है। लॉक की मृत्यु के उपरान्त लवलेस संग्रह (Lovelace Collection) के आधार पर उसकी कुछ अन्य रचनाएं भी प्रकाशित की गईं। उनमें सबसे प्रमुख एसेज ऑन दि लॉ ऑफ नेचर है। विचारकों मानना है कि यह लॉक की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है।

लॉक की पुस्तकों में सबसे महत्वपूर्ण 'टू ट्रीटाइसेज ऑन सिविल गवर्नमेन्ट' है। प्रारम्भ में विचारकों ने इस पुस्तक का लेखन सन 1688 के बाद का माना। यह कहा गया है कि यह पुस्तक सन 1688 क्रान्ति का ही सैद्धान्तिकीकरण है, अर्थात् क्रान्ति को न्यायोचित ठहराने के लिए लिखी गयी एक पुस्तक है। अब इस मत को गलत सिद्ध कर दिया गया है। विचारक अब यह मानने लगे है कि इस पुस्तक को लॉक ने 1681 या उससे पहले लिखा था। जैसा कि पीटर लासनैट ने लिखा है कि ' 'टु ट्रीटाइलेज वास्तव में भावी क्रान्ति की माँग है न कि घटित क्रान्ति को उचित सिद्ध करने, का सिद्धान्त (पीटर लास्तेट (सं) जान लॉक : टू ट्रीटाइसेन ऑफ गवर्नमेंट, न्यूयार्क, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1960 पृ. 45 –46) किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अगर लॉक ने इस कृति की रचना इस समय कर ली थी तो उसे 1688 की क्रान्ति के उपरान्त तक क्यों नहीं प्रकाशित कराया। इस हेतु कहा जाता है कि अगर लॉक ऐसा करते तो

यह उसके लिए खतरनाक साबित हो सकता था। चूंकि लॉक एक बुद्धिमान लेखक था, अतः उसने इस कृति के प्रकाशन के उपरान्त भी यह कतई नही झलकने दिया कि इस कृति का लेखक वह स्वयं है। इस रचना की विषय–वस्तु को स्वयं लॉक ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ' शासन पर दो निबन्धों में पहले में सर रोबर्ट–फिल्मर तथा उसके अनुयायियों के गलत सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का पता लगाना तथा उन्हें अस्वीकार करना है। दूसरा निबन्ध मौलिक........ तथा नागरिक सरकार के उद्देश्यों से सम्बन्धित है" (वही पृ. 59)। अत : हम कह सकते है कि लॉक ने फर्स्ट ट्रीटाइसेज में सर रॉबर्ट फिल्मर के सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक खण्डन करने का प्रयत्न किया है तो सेकण्ड में नागरिक सरकार से सम्बन्धित अपने स्वयं के सिद्धान्त को विकसित किया है। इस प्रकार फर्स्ट ट्रीटाइसेज' मुख्य रूप में फिल्म द्वारा उसकी रचना पेद्रियार्की में विकसित सिद्धान्त की अस्वीकृति के लिए लिखी गई थी। किन्तु उसकी इस कृतिका प्रकाशन सन 1680 में हुआ। सेकण्ड ट्रीटाइसेज मुख्यत : लॉक का सृजनात्मक कार्य है। इसमें लॉक ने नागरिक सरकार के उद्गम, सत्ता तथा उसके उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है। 'लॉक ने संभवतः पहली ट्रीटाइसेज की अपेक्षा दूसरी की रचना पहले की। किन्तु प्रकाशन एवं पेट्रीयार्की के बढ़ते प्रभाव ने यह क्रम बदल दिया। पहली ट्रीटाइसेज इसलिए लिखी गई ताकि उसके अपने स्वयं के अधिक सकारात्मक सिद्धान्त को प्रतिपादित करने से पहले उसके विरोध में आने वाले आधारों को काटा जा सके। " (वही, पृ. 59)

फिल्मर का सिद्धान्त पदसोपानिकता तथा आदेश पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का समाज–शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करता था। फिल्मर का मानना था कि व्यक्तिं का जन्म' प्राकृतिक अवस्था में नहीं वरन् समाज में हुआ है और यह समाज हमेशा से ही आदेश पर संगठित रहा है। फिल्मर ने अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्यतः लोकतंत्र के विशेष–अधिकारों का समर्थन करने के लिए किया था। इस हेतु फिल्मर ने बाइबिल को अपना स्रोत–आधार बनाया। फिल्मर ने बाइबिल से ही उद्धरण लेकर अपने सिद्धान्त की रचना की। किन्तु लॉक ने फिल्मर के 'बाइबिल के प्रत्येक प्रमाण की भूमिकाओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया। सामान्यत : यह कहा जाता है कि लॉक की वास्तव में विरोध फिल्मर की अपेक्षा हॉब्स से था। दूसरे शब्दों मे, फिल्मर की आड में वह हॉब्स को अपनी आलोचना का केन्द्र बनाना चाहते थे किन्तु आधुनिक विचारकों ने इस मान्यता को अस्वीकार कर दिया है। उनका मानना है कि लॉक ने जो यह लिखा है कि उनका विरोध फिल्मर से है, उसमें संदेह करने का कोई कारण नहीं है। निश्चित रूप से ऐसे समय लॉक का उद्देश्य फिल्मर के पेद्रियार्की में उल्लिखित निरंकुशतावाद का विरोध करना था न कि हॉब्स के लेवियाथन का। साथ ही यह विवाद इसलिए भी ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं है कि लॉक ने नागरिक समाज की अवधारणा की जो कल्पना की वह हॉब्स एवं फिल्यर दोनों के ही विरूद्ध जाती है। लॉक की पहली तथा दूसरी ट्रीटाइसेज में परस्पर असत्यता नही दिखाई पडती है, क्योंकि पहली ट्रीटाइसेज दूसरी का आधार तैयार करती है। दूसरे शब्दों में, जहां दूसरी ट्रीटाइसेज में अपना स्वयं का सिद्धान्त विकसित किया गया है, वही पहली में उसके विरोध में आने वाली मान्यताओं को प्रारम्भ में ही अस्वीकार कर दिया गया है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

1. निम्नलिखित वाक्यों के आगे इंगित कीजिये कि वे सही है या गलत
   (अ) लॉक एवं उसका परिवार प्रारम्भ से ही निरंकुशतंत्र का समर्थक रहा है
   (ब) लॉक की प्रथम ट्रीटाइज का उद्देश्य फिल्मर के सिद्धान्तों की आलोचना करना था।
   (स) लॉक का सम्बन्ध टोरी–पार्टी से रहा है।
   (द) रक्तहीन क्रान्ति के फलस्वरूप संसद की महत्ता बढ़ी है।
2. निम्नलिखित में से कौन सी पुस्तक जीन लॉक की नहीं है।
   (अ) एसेज ऑन दि लॉ ऑफ नेचर
   (व) थॉटस कन्सर्निग एजूकेशन
   (स) ऑन लिबर्टी
   (द) लेटर्स कन्सर्निग टॉलरेशन

उत्तर ( )

5. राजनीतिक चिन्ता

अध्ययन सुविधा की दृष्टि से लॉक के राजनीतिक चिन्तन कों निम्न उपशीर्षकों में बाँटा जा सकता है:

5.1 मानव प्रकृति एवं प्राकृतिक अवस्था

लॉक ने अपने राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ हॉब्स की भांति प्राकृतिक अवस्था से ही प्रारम्भ किया है। लॉक का मानना है कि प्राकृतिक अवस्था की दो महत्वपूर्ण विशेषताएं है। प्रथम, यह पूर्ण स्वतंत्रता की अवस्था है। इस अवस्था में व्यक्ति प्राकृतिक कानून की सीमाओं के अन्दर जो चाहे कर सकता है। लॉक के शब्दों में, ' 'प्राकृतिक कानून की सीमा में रहते हुए किसी दूसरे मनुष्य की इच्छा या अनुमति से स्वतंत्र अपना कार्य करने की, अपनी सम्पत्ति और व्यक्तित्व की अपनी इच्छानुसार व्यवस्था करने की पूर्ण स्वतंत्रता की अवस्था हो मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था है। " (पीटर लास्तेट, पूर्वोक्त : II: 4)। द्वितीय, यह समानता की अवस्था है। इसमें प्रत्येक को सब अधिकार समान रूप से प्राप्त होते है। किसी को अन्य से अधिक नहीं वरन् उनको मिले हुए अधिकारों में भी पूर्णत: समानता है। प्राकृतिक अवस्था का स्वतंत्रता एवं समानतायुक्त होना हॉब्स तथा लॉक को एक–दूसरे के समीप लाता है। किन्तु दोनों की प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी मान्यता में बहुत बड़ा अन्तर भी है। हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था के व्यक्तियों की समानता एवं स्वतंत्रता उन्हें सीधे युद्ध की अवस्था में धकेल देती है जबकि लॉक में ऐसा नहीं है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था न तो आदर्शवादी है और न ही युद्ध की अवस्था। लॉक की प्राकृतिक अवस्था की उल्लेखनीय विशेषता प्राकृतिक कानून का होना है जो उसें व्यवस्थात्मक रूप प्रदान करते है। लॉक ने लिखा है, ' 'प्राकृतिक अवस्था में व्यवस्था के लिए, प्राकृतिक विधान है जो सर्वमान्य है। विवेकतत्व यह विधान है। समस्त मानव जाति को यह कानून शिक्षा देता है कि सब मनुष्य समान एवं स्वतंत्र है अत: किसी को अन्य के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतंत्रता और समत्ति का अनिष्ट नहीं करना चाहिए। " लॉक के राजनीतिक सिद्धान्त के संदर्भ में प्राकृतिक कानून कें तीन राजनीतिक पद सामने आते है :-

प्रथम, जब सभी व्यक्ति प्राकृतिक कानून कें अन्तर्गत समानअधिकार रखते है तो कोई व्यक्ति अपनी स्वयं की इच्छा बिना किसी अन्य' की राजनीतिक सत्ता कें नियन्त्रण में नहीं आ सकता है।

द्वितीय, प्राकृतिक कानूनों की सुरक्षा एवं संरक्षण सरकार का प्राथमिक कार्य है।

तृतीय, प्राकृतिक अधिकार सरकार की सत्ता पर एक सीमा तय करतें है। जों सरकार अपने नागरिकों के कानूनों का उल्लंघन करती है, वह जनता के आज्ञाकारी होने का दावा खो देती है तथा उसे न्यायोचित रूप से हटाया जा सकता है।

व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में जिन प्राकृतिक कानूनों द्वारा निर्देशित होते है वे प्राकृतिक कानून विवेकीय होते है तथा उनकी व्याख्या भी भिन्न–भिन्न हो सकती है। साथ ही, सभी व्यक्ति थोड़े बहुत स्वार्थी भी हो सकते है। प्राकृतिक अवस्था में सभी व्यक्तियों का प्राकृतिक कानून को लागू करने का उत्तरदायित्व होता है। अतः प्राकृतिक अवस्था में सत्ता सभी' व्यक्तियों के हाथों में होंती है। यद्यपि यह अपूर्ण है तथा असुविधाएं उत्पन्न करती है फिर भी वह युद्ध की अवस्था की ओर नहीं ढकेलती। लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की निम्न तीन अपूर्णताओ या असुविधाओं का उल्लेख किया है :

प्रथम, प्राकृतिक अवस्था में ऐसे व्यवस्थित, निश्चित तथा सर्वज्ञात विधान का अभाव था जिनके पीछे व्यापक सहमति हो और जो उचित तथा अनुचित कें मापदण्ड के रूप में, और व्यक्तियों के परस्पर समस्त मतभेदों का निर्णय करने कें सामान्य विधान के रूप में, सबको स्वीकृत हों। यद्यपि प्रकृति का विधान सब विवेक सम्पन्न जीवों के लिए स्पष्ट और बोधगम्य होता है परन्तु व्यक्ति अपने निजी स्वार्थो से प्रभावित होता है और प्रकृति के विधान पर ध्यान न देने के कारण वह उससे अनभिज्ञ रहता है।

द्वितीय, प्राकृतिक अवस्था में ऐसे सर्वमान्य तथा पक्षपातरहित न्यायाधीश का अभाव था जो सब मतभेदों का उस संस्थापित विधान कें अनुसार निर्णय करने का अधिकारी हो।

तृतीय, प्राकृतिक अवस्था में बहुधा उचित दण्ड कें सक्रिय समर्थकों का और दण्ड कों क्रियान्वित करने के लिए सज़ा का अभाव था। यदि दुष्क्रम या अनिष्ट करने वाला सबल हुआ तो वह अपने बल के कारण प्रायः अदण्डित रह जाता था (पीटर लासनेट, वही, 2:124,125,126)

इस प्रकार व्यक्तियों को प्राकृतिक अवस्था में सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे, किन्तु फिर भी वह अवस्था इतनी असुविधाजनक थी कि व्यक्ति उसमें रहते हुए भी शीघ्र ही नागरिक समाज की ओर अभिप्रेरित हुए। लॉक का मानना था कि अच्छे समाज के लिए नैतिक मान्यताओं पर सहमति होना जरूरी है। व्यक्ति उस समय तक शान्ति सें नही रह सकता जब तक कि वह इस बात पर सहमत न हो जाए कि नैतिक आचरण क्या है और क्या नहीं है? लॉक ने अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं – विशेषकर एसेज ऑर दि तॉ ऑफ नेबर में यह माना है कि नैतिक व्यवहार की संहिता एक नैतिक आदेश के रूप में प्राकृतिक कानून में विद्यमान होती है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि इस कानून या संहिता के लिए कौन से सिद्धान्तों की जरूरत पड़ती है? प्राकृतिक कानून की परम्परा यह बताती हें कि इस उद्देश्य के लिए प्रत्येक व्यक्ति का

आत्म–चेतन एवं विवेकशील होना पर्याप्त है। किन्तु कालान्तर में चलकर लॉक इस बिन्दु पर संदेह प्रकट करता है। उसको ऐसा– लगा कि सामान्य व्यक्ति प्राकृतिक कानून की विवकीय समझ के लिए आवश्यक बौद्धिक प्रकाश से प्राय : दूर होता है। साथ ही, उसने व्यक्ति की आत्म चेतना की क्षमता के बारे में भी अपना संदेह प्रकट किया है। लॉक के ये संदेह उसकी सेकेण्ड ट्रीटाइसेज में प्रकट प्रमाणों सै सिद्ध होते है। लॉक ने अपनी परवर्ती रचना 'दि रीजनेबिलनेस ऑफ क्रिश्चिएनिटी ' (1695) में इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ईसाई नैतिकता नैतिक व्यवहार की एक ऐंसी आचार–संहिता प्रस्तुत करती है जिसे सामान्य व्यक्ति अपना सकता है। साथ ही, इसके लागू करनें के लिए सका की जरूरत होती है, उसका भी इसमें विवेचन किया गया है। ईश्वर आज्ञाकारी को पुरस्कृत करता है तथा अवज्ञाकारी को दण्ड देता है। नैतिक–आचरण ईश्वरीय आदेश होने के कारण उन्हें साध्य के कारण व्यक्ति भी बिना किसी बौद्धिक प्रयास के स्वीकार कर लेता है। ईसाई नैतिकता दैवीय सत्ता द्वारा दी गई है न कि मानव चेतना से प्रकट प्राकृतिक कानून सें। अत : वह अच्छे सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक नैतिक आचरण के नियम प्रदान करती है। निष्कर्षत हम कह सकते है कि लॉक ने एक तरफ प्राकृतिक कानून का ईश्वरीय कानून से सम्बंध जोड़ना चाहा तो दूसरी तरफ उसने इसे विवेक का आदेश भी माना। यद्‌यपि लॉक प्राकृतिक कानून को विवेकीय आधार प्रदान करने में कई तरह से असफल रहा है। (जेरेमी वाल्ड्रन, दि ब्लाक्वेल ल एन्साइक्लोपीडिया ऑफ पॉलिटिकल थॉट, पृ. 293)

5.2 समाज एवं सरकार की स्थापना

लॉक की प्राकृतिक अवस्था में असुविधाएं तो थी किन्तु वह असहनीय नही थी। लॉक की प्राकृतिक अवस्था तथा हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था के सिद्धान्त मे हम यही अन्तर पाते है। इस अन्तर को स्वयं लॉक ने प्रकट करते हुए लिखा है, ' 'प्राकृतिक अवस्था तथा युद्ध की अवस्था में यह स्पष्ट भिन्नता है जिसे कुछ विचारकों ने स्वीकार नहीं किया है। इन दोनों अवस्थाओं में उतनी ही भिन्नता है, जितनी शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग तथा सुरक्षा की अवस्था और शत्रुता तथा पारस्परिक संहार की अवस्था में होती है " (पीटर लासनेट, पूर्वोक्त, II:19)। लॉक के अनुसार व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राकृतिक अवस्था की स्थिति को ठीक करना आवश्यक है, ताकि नागरिक समाज का गठन किया जा सके तथा ऐसी संस्था को जन्म दिया जा सके जो इस अवस्था की कमियों को सुधारने में समर्थ हो। इस उद्देश्य से ही व्यक्ति समझौता करते है। इस समझौते के माध्यम से स्वतंत्र एवं समान व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता का इसलिए परित्याग कर देते है ताकि प्राकृतिक कानून की सही व्याख्या हों सके, समर्थ न्यायाधीश हो तथा उन्हें लागू किया जा सके। लॉक के शब्दों में ' 'व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता का परित्याग, अन्य व्यक्तियों के साथ सम्मिलित हो, सहमति से ऐसे समाज की स्थापना करने के लिए ही करता है, जिसके अधीन वे सब सुविधापूर्वक, सुरक्षित और शान्तिपूर्वक एक साथ रह सकें और अपनी सम्पत्ति का निरापद

उपभोग कर सकें तथा विशेषत: उन लोगों से सुरक्षित रह सके जो उस समाज के अन्तर्गत नही हे " (वही, II:95)।

समझौता उसमें सम्मिलित सभी व्यक्तियों की सर्वसम्मति से किया गया है। एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को इसका सहभागी बनने के लिए बाध्य नही किया गया। जो व्यक्ति इस समुदाय में सम्मिलित नहीं होना चाहते वे अपनी प्राकृतिक अवस्था में रह सकते है। जो व्यक्ति समझौते का भाग बने, उन्होंने तय किया कि वे बहुमत कें निर्णय से शासित होगे। बहुमत का शासन दो कारणों से आवश्यक है : –

प्रथम, सर्वसम्मति से व्यक्ति एक समुदाय बनाते है तो वे उसे एक इकाई का रूप देते है। इस समुदाय को एक इकाई के रूप में कार्य करने का अधिकार होता है, जिसका प्रयोग केवल बहुमत की इच्छा और निश्चय के अनुसार ही हो सकता है। कोई भी समुदाय अथवा कार्य अपने सदस्यों की सहमति द्वारा ही कर सकता है। चूंकि यह समुदाय एक इकाई होता है, अत: समग्र समुदाय की एक स्पष्टत: निर्दिष्ट नीति का होना आवश्यक है।

द्वितीय इसके विपरीत हर स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति की सहमति प्राप्त करना असम्भव होगा। यहाँ यह 'प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो व्यक्ति समझौते के बाद 'नागरिक समाज में आते है या जन्म लेते है, क्या उन पर भी यह समझौता लागू होगा? लॉक ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि नवजन्म लेने वाले बच्चों की सहमति इसमें सम्मलित नहीं है। बच्चे माता–पिता के संरक्षण में रहते है न कि उनके अधीनस्थ के रूप में। बच्चे उसी समय अपनी सहमति प्रकट करते है, जब वे इस उम्र के हो जाते है। लॉक कें अनुसार वे मौन सहमति प्रदान करते है, न कि प्रकट। व्यक्ति से सहमति की तभी आशा की जा सकती है जबकि वे समाज में रहते हो तथा समाज द्वारा प्रदान किये जाने वाले संरक्षण तथा उसकी सेवाओं का उपभोग करतें हो। अत : सहमति किसी व्यक्ति पर बाध्यकारी नही है। जो व्यक्ति केवल मौन सहमति प्रदान करते है, वे कभी भी अपनी सहमति वापिस ले सकते है तथा दुबारा प्राकृतिक अवस्था में लौट सकते है या अपना स्वयं का समुदाय बना सकते है। किन्तु जो व्यक्ति प्रकट सहमति दे चुके है, वे इसको अपनाने तथा मानने के लिए बाध्य है। वें समुदाय से अपने कों उस समय तक अलग नही कर सकते जब तक कि सरकार को भंग न कर दिया जाए या किसी लोककानून द्वारा ऐसा न कर दिया जाए।

एक बार व्यक्ति जब समाज का गठन कर लेता है तो ऐसे उपायों की तरफ अपना ध्यान केन्द्रित करता है, जिससे प्राकृतिक अवस्था की समस्याओं को दूर किया जा सकें। इस दृष्टि से व्यक्ति सरकार का निर्माण करते है। यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि हॉब्स की भाँति लॉक भी सरकार तथा व्यक्तियों के मध्य समझौते की बात नहीं करता क्योंकि समझौता अगर दो सहभागियों में होता है तो उन्हें एकदूसरे की कुछ शर्तें मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। हॉब्स एवं लॉक दोनो ने इस स्थिति को अस्वीकार कर दिया है क्योंकि दोनों एकपक्षीय समझौता करना चाहते थे, यद्यपि दोनों के कारण भिन्न–भिन्न थे। जैसा कि हम पिछली इकाई में देख चुके है कि हॉब्स सरकार तथा व्यक्तियों के मध्य समझौते कों इस कारण अस्वीकार कर देता है कि वह न तो व्यक्तियों को सरकार कें बराबर दर्जा देना चाहता था और न ही सरकारों कें –

व्यक्तियों कें प्रति दायित्वों कों प्रतिबन्धित करना चाहता था। जबकि लॉक का कारण इससे पूर्णत भिन्न था। लॉक के अनुसार सरकार व्यक्तियों के बराबर नहीं है और साथ ही व्यक्तियों के प्रति सरकार का दायित्व एवं कर्तव्य है। अत: सरकार व्यक्तियों की एजेन्ट है, उनकी सहभागी नहीं। फलत: प्रश्न उठता है कि तब सरकार का निर्माण कैसे किया गया? इस उद्देश्य से लॉक ने न्याय कें प्रावधान की व्यवस्था की है। दूसरे शब्दों में, सरकार को एक न्याय कें रूप में अपनाया गया तथा वह अपने कार्यों के लिए न्याय के सदस्यों – व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी ठहराई गई। न्याय या सरकार उसके बनाने वाला के समान नहीं हो सकती। साथ ही, इसका यह दायित्व भी है कि वह इसके बनाने वालों के एक एजेन्ट के रूप में कार्य करे। यद्यपि लॉक ने न्याय कें प्रावधानों का स्पष्टत: उल्लेख नही किया किन्तु न्याय की अवधारणा उनकी 'सैकण्ड ट्रीटाइसेज में पूर्णत: प्रकट होती है।

स्वमूल्याँकन प्रश्न

3. निम्नलिखित में से कौन सी विशेषता लॉक की प्राकृतिक अवस्था की नहीं है :–
   (अ) समानता का होना
   (व) प्राकृतिक कानूनों का होना
   (स) कानूनों का उल्लंघन करने पर दण्ड देने के लिए न्यायाधीश का होना।
   (द) स्वतंत्रतायुक्त होना उत्तर ( )
4. निम्नलिखित में से कौन सा कथन असत्य है –
   (अ) समझौता सर्व–सम्मति से किया।
   (व) समझौता सीधे व्यक्तियों एवं सरकार के मध्य हुआ
   (स) व्यक्ति अपनी मौन सहमति को वापिस ले सकता है।
   (द) सरकर को न्याय के रूप में लिया गया उत्तर ( )

5.3 सरकार के प्रकार

लॉक सरकार के प्रकारों का विवेचन करते हुए कहता है कि चूंकि प्राकृतिक अवस्था में कोई व्यवस्थित एवं सर्वमान्य कानून नहीं थे, अत: एक कानून निर्मात्री इकाई होना आवश्यक है। यह व्यवस्थापिका होगी। यह प्रत्येक राज्य में सर्वोच्च सत्ता होती है। लॉक कें शब्दों में, ' व्यवस्थापिका सत्ता वह सत्ता है जिसे राज्य की शक्ति का निर्देशन करने का अधिकार हो ताकि किसी प्रकार वह शक्ति समाज और उसके सदस्यों की सुरक्षा के लिए लिए प्रयोग में लाई जाए " (लास्लेट, पूर्वोक्त, II:43)। बहुमत की मान्यता स्वत: व्यवस्थापिका को प्रजातांत्रिक बना देती है। साथ ही, सरकार का स्वरूप भी इस बात पर निर्भर करता है कि व्यवस्थापिका सत्ता का किस प्रकार से संचालन किया जाए। लॉक ने लिखा है कि सरकार का सबसे अच्छा रूप वह है जिसमें व्यवस्थापिका सत्ता ऐसे भिन्न–भिन्न व्यक्तियों को सौंपी जाए जो विधिपूर्वक सभा में एकत्रित हों और जिन्हें स्वयं या ओरों के साथ संयुक्त रूप से व्यवस्थापिका सत्ता प्राप्त हों तथा विधान निर्माण के बाद वे फिर पृथक हो जाएं और स्वयं भी अपने बनाए हुए विधानों के अधीन ही। लॉक का ऐसी व्यवस्थापिका सत्ता की तरफ आग्रह रहा है जों कि एक प्रतिविधि

पूर्ण सत्ता हो। यहाँ यह उल्लेखनीय होगा कि यद्यपि लॉक ने व्यवस्थापिका को राज्य में सर्वोच्च सत्ता के रूप में लिया है किन्तु उसे कभी निरंकुश या निरपेक्ष सत्ता के रूप मे, स्वीकार नहीं किया। उसने व्यवस्थापिका पर चार प्रतिबंध लगाये है:

प्रथम, इसका मनमाने तरीके से प्रयोग नहीं किया जा सकता।

द्वितीय, इसे हमेशा समाज की भलाई की तरफ प्रेरित होना होगा।

तृतीय, यह किसी भी व्यक्ति को उसकी सहमति कें बिना उसकी सम्पत्ति से अलग नहीं कर सकती।

चतुर्थ, यह अपनी कानून बनाने की शक्ति किसी अल्प–इकाई या व्यक्तियों को नही दें सकती है। केवल उन्ही व्यक्तियो को कानून बनाने का अधिकार होगा, जिन्हे व्यवस्थापिका शक्ति प्रदान की गयी हो। साथ ही, व्यवस्थापिका केवल सरकार के अन्य अंगों से सर्वोच्च है, किन्तु उन व्यक्तियों से सर्वोच्च नही है जिन्होंने उसका निर्माण किया है।

प्राकृतिक अवस्था में दूसरी समस्या निष्पक्ष न्यायाधीश का अभाव था। अत: लॉक नें कहा मान्य न्यायोचित न्यायाधीश होने चाहिए। लॉक के समय में कानूनों की व्याख्या कार्यपालिका का कार्य माना जाता था तथा न्यायपालिका कों कार्यपालिका के एक अंग कें रूप में स्वीकार किया जाता था किन्तु लॉक का आग्रह एक पृथक न्यायपालिका पर था न कि स्वतंत्र न्यायपालिका पर।

प्राकृतिक अवस्था में अन्तिम कमी निर्णयों के क्रियान्वयन की शक्ति का अभाव था। अत: कार्यपालिका का गठन होना प्रासंगिक हुआ। कार्यपालिका सत्ता लॉक के अनुसार व्यवस्थापिका के अधीन होनी चाहिए तथा उसे उसके एजेन्ट के रूप में काम करना चाहिए। लॉक का मानना था कि ये दोनों शक्तियाँ – व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका – एक ही व्यक्तियों के हाथों में नहीं होनी चाहिए। दोनो के एक ही व्यक्ति के हाथ मे, होने के कारण गहरा खतरा पैदा हो जाएगा तथा इसके दुरूपयोग की संभावनाएं बढ़ जाएंगी। व्यवस्थापिका के सर्वोच्च होने कें उपरान्त भी यह जरूरी नही है कि यह निरन्तर कार्य करती रहें। अत: कार्यपालिका को ऐसा करना चाहिए। लॉक ने एक अन्य सरकारी सत्ता का उल्लेख किया है जिसे उसने संघीय सत्ता (Federative Authority) का नाम दिया है। इस सत्ता का कार्य वैदेशिक संबंधों तथा सैनिक मामलों सहित विदेश नीति का संचालन करना था। इस सत्ता के संचालन हेतु कोई अलग से इकाई की जरूरत नहीं है। इसका संचालन कार्यपालिका सत्ता द्वारा किया जायेगा, लॉक ने ऐसा प्रावधान प्रस्तुत किया। लॉक का व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका कों अलग–अलग रखने का प्रस्ताव शक्ति–पृथक्करण की अवधारणा से जन्म लेता है। यहाँ यह उल्लेख करना वांछनीय होगा कि लॉक शक्ति–पृथक्करण से ऐसी मान्यता को प्रस्तुत नही करता जिसमे सरकार के सभी अंगों में शक्तियाँ समान हो। लॉक ने अपनी इस मान्यता से व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता को स्वीकारा है तथा कार्यपालिका मे व्यवस्थापिका के नियंत्रण से पूर्णत: मुक्त नहीं रखा है। लॉक ने लिखा है कि व्यवस्थापिका के एक अधिवेशन से दूसरे अधिवेशन के बीच ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो सकती है जिनसे निपटने में प्रचलित कानून पर्याप्त नहीं हों। ऐसी स्थिति सें निपटने के लिए लॉक ने कहा कि जनहित के लिए कार्यपालिका

को अपने विशेषाधिकार से निर्णय लेना चाहिए। अत: स्पष्ट है कि लॉक ने एक तरफ व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता को स्वीकार किया और दूसरी तरफ कानून निर्माण का कार्य विषम परिस्थितियों में कार्यपालिका को भी सौंपा है।

5.4 क्रान्ति का अधिकार तथा संप्रभुता की अवधारणा

न्याय की अवधारणा में क्रान्ति की मान्यता स्वत: अन्तर्निहित होती है। अगर सरकार न्याय के प्रावधानों का उल्लंघन करती है तथा सत्ता का निजी हितपूर्ति में प्रयोग होता है तो जनता को यह अधिकार है कि वह ऐसी सरकार कों हटा दें। इस उद्देश्य के लिए यदि आवश्यक हो तो वह शक्ति का प्रयोग भी कर सकती है यद्यपि लॉक ने उस अवस्था का उल्लेख नहीं किया है जिसमें शक्ति की अनुमति हो, किन्तु यह उसके सिद्धान्त से स्पष्टत: झलकता है। साथ ही, लॉक ने लिखा है कि न्याय का उल्लंघन न करनें वाली सरकार के विरूद्ध क्रान्ति करनें का जनता को अधिकार नही है। यहाँ हमें एक असत्यता दिखायी देती है। अगर ट्रस्ट है तो इसके निर्माताओं को इसे समाप्त करने का विशेषाधिकार होना ही चाहिए। किन्तु जब तक ट्रस्ट का उल्लंघन नहीं होता, लॉक इस अधिकार से अस्वीकार करता है (एम बूड़. हार्मन)। यहा यह प्रश्न उठता है कि इस बात का निर्धारण कौन करेगा कि ट्रस्ट का उल्लंघन हुआ है या नहीं। लॉक ने इसके लिए जनता को अधिकृत किया है किन्तु जनता को अपने इस अधिकार का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। लॉक ने लिखा है कि सरकार को हटाने से समाज खत्म नहीं हों जाता है। समाज का संगठन तो बना रहता है जो तत्काल रूप से एक नयी व्यवस्था का सूत्रपात कर सकता है।

जब जनता को अपना एजेन्ट चुनने तथा उसे हटाने का अधिकार है तो हम कह सकते है कि सम्प्रभुता जनता में ही निहित है। यहाँ हमें यह उल्लेख करना होगा कि जहाँ हाब्स तथा बौदाँ के राजनीतिक चिन्तन में सम्प्रभुता की अवधारणा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है वही लोंक के चिन्तन में यह हमें स्पष्टत: नहीं दिखायी नहीं देती। अगर सम्प्रभुता को बोदाँ के अर्थ में परिभाषित किया जाये (नागरिकों तथा अधीनस्थों पर एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता जिसे कानून द्वारा सीमित नही किया जा सकता है) तो लॉक के लेखन मे ऐसी अवधारणा का कोई स्थान नहीं है। बोदाँ की सम्प्रभुता की अवधारणा का तात्पर्य एक ऐसी सरकार की स्थापना करना है जो अपने स्वरूप में निरपेक्ष एवं निरंकुश हो। अगर सम्प्रभुता का तात्पर्य कानून निर्माण एवं कानूनों को लागू करना है तो लॉक के लेखन में यह शक्ति जनता के पास नहीं है परन्तु अगर सम्प्रभुता का तात्पर्य सरकार बनाना या उसे हटाने से है तो यह शक्ति जनता में अवश्य निहित है, अत: जनता सम्प्रभुता सम्पन्न है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि सम्प्रभुता की मान्यता लॉक के लेखन में प्रकारान्तर से ही देखने को मिलती है 'क्योंकि लॉक ने स्पष्ट रूप से न तो इस शब्द का प्रयोग किया है और न ही इसका विवेचन। लॉक ने अन्तिम शक्ति जनता में मानी है। जनता इस शक्ति का प्रयोग निर्वाचन प्रक्रिया या बहुत ज्यादा जरूरी हो तो क्रान्ति द्वारा करती है। सरकार संचालन कें दिन–प्रतिदिन के कार्य व्यक्तियों की एक इकाई में होने चाहिए, जों सर्वोच्च क्षमता तो रखते हो, किन्तु वें अनिवार्यत: जनता के प्रति उत्तरदायी हों।

व्यवस्थापिका सम्प्रभु शक्तियाँ लिए होंती है किन्तु वास्तव में सम्प्रभु वह नहीं वरन् जनता ही है।

5.5 प्राकृतिक अधिकारी की अवधारणा

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों के पास कुछ अधिकार थें जिन्हे उच्च प्राकृतिक अधिकारों की संज्ञा दी है। चूंकि ये अधिकार अपर्याप्त थे, अत: व्यक्तियों नें एकदूसरे से समझौता किया तथा एक नागरिक समाज की रचना की तथा उसके बाद सरकार की स्थापना की। लॉक के लेखन में प्राकृतिक अधिकारों का जों विवेचन मिलता है उसके अनुसार अधिकार सरकार से पहले है तथा सरकार का अस्तित्व उनको संरक्षण प्रदान करना है। अधिकार, प्राकृतिक अवस्था में पूर्ण थे, अत: सरकार एवं कानून उनमें अतिरिक्त कुछ भी नहीं जोड़ते। सरकार द्वारा बनाए गए कानून उस समय तक मान्य रहते है जब तक कि वे प्राकृतिक कानूनों के अनुरूप हो। राजनीतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकार कानूनी अधिकारों 'का रूप ले लेते है तथा सरकार इन्हें लागू करने को बाध्य होती है। लॉक के अनुसार प्रत्येक अच्छी सरकार ऐसा करती है जबकि बुरी सरकार इनकी अपेक्षा अपने स्वयं कें कानून ही लागू करती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वे कौन से प्राकृतिक अधिकार है जो प्राकृतिक अवस्था में व्यक्तियों को मिले हुए थे और जिन्हें सरकार संरक्षण प्रदान करनें के लिए प्रतिबन्धित थी। इनमें लॉक नें जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पदा को लिया है, जिन्हें कि उसने सामूहिक रूप से सम्पत्ति का नाम दिया है " (पीटर लास्लेट, पूर्वोक्त II:123)। लॉक द्वारा अन्य स्वतन्त्रताओं को परिभाषित करने के लिए जो सम्पत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है वह दमित करने वाला है, क्योंकि हम यह निर्धारण नहीं कर सकते कि लॉक नें किस हद तक इस शब्द कें अर्थ पर सातत्यपूर्ण मान्यता रखी है। द्वितीय ट्रीटाइज में लॉक ने कई बार इस शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया है। जबकि कई अन्य जगह वह सम्पत्ति शब्द का प्रयोग भौतिक सम्पदा के स्वामित्व के रूप में करता है। अत: लगता है कि लॉक ने सम्पत्ति का सामान्य अर्थ में विवेचन विस्तृत रूप में किया है।

लॉक का मानना है कि प्राकृतिक अवस्था में सम्पत्ति सामूहिक स्वामित्व में थी। ईश्वर ने, जिसने इस पृथ्वी पर व्यक्तियों को अनेक वस्तुएं प्रदान कीं, उनके साथ उसने उन्हें यह विवेक भी प्रदान किया कि वह इनका अच्छे गुणों व अच्छे जीवन के लिए प्रयोग करें। लॉक कें अनुसार सामूहिक सम्पत्ति प्रयोग से पहले व्यक्तिगत नियंत्रण में आना जरूरी है। दूसरे शब्दों में, जब तक सम्पत्ति का कोई प्रयोग नहीं करना चाहता वह सभी के, लिए नियंत्रण में रहती है, किन्तु व्यक्ति अगर उसे अपने निजी प्रयोग के लिए काम मे लाना चाहता है तो उससे पहले उसे सम्पत्ति पर अपना अधिकार करके उसे अपना बनाना होगा। इस प्रकार सार्वजनिक सम्पत्ति प्रयोग में आने से पहले निजी सम्पत्ति में बदल जाती है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सार्वजनिक सम्पत्ति निजी सम्पत्ति के रूप में कैसे बदलती है? लॉक इस संदर्भ में लिखता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। वह अपने शरीर तथा शारीरिक श्रम पर स्वयं अधिकार रखता है। जब प्रकृति द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं हेतु वह श्रम करता है तो वे वस्तुएं उसकी बन जाती है। लॉक कें अनुसार श्रम के कारण वे वस्तुएं निजी बन जाती है। लॉक अपनी सम्पत्ति संबंधी

मान्यता में ग्रोशियस तथा पुर्फेन्डोर्फ जैसे, अपने पूर्ववर्ती विचारकी से तो सहमति व्यक्ति करता है किन्तु सम्पत्ति के अपने विवरण के संबंध में वह परम्परागत मान्यता को अस्वीकार कर देता है। लॉक नें सम्पत्ति के परम्परागत स्वामित्व की अपेक्षा उसके श्रम द्वारा स्थापित होने पर जोर दिया है। यहाँ श्रम सिद्धान्त ही निजी सम्पत्ति को जन्म देता है। इसे लॉक ने श्रम सिद्धान्त के मूल्य के रूप में विकसित किया है। जिस कच्चे पदार्थ पर जितना ज्यादा श्रम लगेगा वह पदार्थ उतना ही मूल्यवान होगा। आदम स्मिथ तथा रिकार्डों दोनों ने लॉक द्वारा अपनाए गए श्रम सिद्धान्त के मूल्य कों अपनाया है।

लॉक के अनुसार निजी सम्पत्ति एक प्राकृतिक अधिकार है किन्तु यह असीमित नहीं है। श्रम के उपरान्त भी किसी व्यक्ति को यह अधिकार नही है कि वह अपने तथा परिवार की आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह कर सके। व्यक्ति उतनी ही वस्तुएं रख सकता है जितनी कि वह खराब होने से पहले प्रयोग कर ले। अपनी आवश्यकता से जो भी अधिक वस्तुएं होंगी वह दूसरों की होगी। लॉक के अनुसार व्यक्ति प्राकृतिक कानून के अन्तर्गत दूसरों को प्रभावित करने हेतु सम्पत्ति का संग्रह नहीं कर सकता। जहाँ तक भूमि का प्रश्न है, लॉक ने लिखा है कि व्यक्ति उतनी ही भूमि रखने का अधिकारी है, जितनी की वह जोत सकता है। भूमि के साथ व्यक्ति जों श्रम करता है वह ही उस भू–उत्पाद की कीमत होंती है।

अभी तक हमने प्राकृतिक अवस्था में सम्पत्ति की अवधारणा तथा उस पर सीमाओं का विवेचन किया। अब हम राजनीतिक अवस्था में लॉक ने इसे किस रूप में प्रकट किया है, उसे देखने का प्रयास करेंगे। लॉक के अनुसार व्यक्ति द्वारा समाज में प्रवेश तथा सरकार की रचना इसलिए की जाती है कि वह उसकी सम्पत्ति की रक्षा करें। आरे शब्दों में, सहमति द्वारा राजनीतिक शक्ति की स्थापना सम्पत्ति के नियमन तथा संरक्षण के लिए होती है। सरकार इस बात का प्रबंध करती है कि व्यक्ति न्यायोचित तरीके से ही सम्पत्ति का संग्रह कर सकें तथा लोकहित कें विरूद्ध होने वाले इसके प्रयोग को रोक सकें। लॉक निस्सन्देह उस वर्ग के प्रति सहानुभूति रखता था जों कि बिना प्रतिनिधित्व दिए कर लेने कें प्रावधान का विरोध करतें थे। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि लॉक का सम्पत्ति का सिद्धान्त असीमित अहस्तक्षेप के सिद्धान्त (Theory of unlimited laissez faire) का समर्थक नहीं था। लॉक के अनुसार राज्य द्वारा सम्पत्ति का नियमन एवं संचालन प्राकृतिक कानून के विरूद्ध नहीं है, बशर्ते ऐसा करने कें लिए जनता ने अपनी सहमति दे दी हों। साथ ही यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक होगा कि लॉक नें सम्पत्ति के स्वामित्व में भी समतावादी सिद्धान्त का अनुमोदन नहीं किया है। लॉक के अनुसार, कुछ व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा अधिक उद्यमी होते है तथा अधिक सम्पत्ति संग्रह की क्षमता रखते है। यद्यपि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति पर इस बात का सशक्त नियनाग होता है कि वह अपने प्रयोग सें अधिक वस्तुओं का संग्रह नही कर सकता। धन पैदा करके एवं सहमति द्वारा सक्षम व्यक्ति इस प्रतिबंध से निकल सकते है। इसी उपाय द्वारा व्यक्ति संग्रह भी कर सकता है तथा चीजों के खराब होने के खतरे से भी बच सकता है। लॉक की यह व्यवस्था प्राकृतिक कानून के उल्लंघन किये बिना ही सम्पदा के स्वामित्व में गहरी असमानता की अनुमति प्रदान कर देता है। लॉक द्वारा प्रस्तुत सम्पत्ति के स्वामित्व का विवेचन तथा असमानता का औचित्य उन्हे ऐसी अवस्था में ले जाता है जहाँ विचारक उन्हें

आधुनिक पूंजीवाद का सिद्धान्तविद् मानने लगे है। सी. बी. मेक्फरसन नें इसी संदर्भ में लॉक का मूल्याँकन करते हुए उन्हें 'पजेसिव इण्डीविजुयलिज' का प्रवक्ता बताया है। (सी.बी मेंक्फ़रसन, पोज़ेसिव थयोरी ऑफ पजेसिव इण्डीविजुयलिज, ऑक्सफोर्ड 1962)

6. निष्कर्ष एवं सारांश

सेबाइन का मानना है कि लॉक का सिद्धान्त देखने में साधारण सा लगता है किन्तु वास्तव में यह काफी जटिल है। लॉक ने अपने समय की कई बहुत–आयामीय राजनीतिक समस्याओं का उत्तर देने का प्रयास किया है। साथ ही, उसके विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि उसका एक समस्या का समाधान दूसरी के विपरीत जाता है। फलत: लॉक के राजनीतिक सिद्धान्त में कई विरोधाभास एक साथ देखने को मिलते है। इनको हम निम्न प्रकार देख सकते, है :–

प्रथम, यह एक विवाद का विषय है कि लॉक व्यक्तिवादी था या बहुमत समर्थक लोकतांत्रिक। लॉक द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति के अधिकारों का समर्थन एक निष्कर्ष पर पहुंचता है तो बहुमत के अधिकारी का समर्थन दूसरे निष्कर्ष पर।

द्वितीय, सम्पत्ति की अवधारणा के बारे में हमें अस्पष्टता एवं विरोधाभास की स्थिति देखनी पड़ती है। कई जगह लॉक ने सम्पत्ति में जीवन, स्वतंत्रता एवं सम्पदा को लिया है तो साथ. ही उसने सम्पत्ति को केवल भौतिक सम्पदा के रूप में भी ग्रहण किया है।

तृतीय, लॉक सामान्यत: व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता की बात करता है, किन्तु साथ ही वह बहुत सारी परिस्थिति में कार्यपालिका को कानून–निर्माण कें क्षेत्र में स्वविवेक का अधिकार भी।

हालाँकि लॉक के चिन्तन में विरोधाभास तथा असत्ता की स्थिति पाई जाती है, किन्तु लॉक को पूर्ण सातत्यता एवं सभी समस्याओं का उत्तर प्रदान करने में असफलता के लिए दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता। हम कह सकते है कि पूर्ण समाधान या निरपेक्ष उत्तर या तो अव्यावहारिक होते है या वे निरपेक्ष सरकार की तरफ अग्रसर करते है। सातत्यता हॉब्स के लिए आसान हो सकती है क्योंकि उसने सभी समस्याओं के उत्तर व्यक्ति के अधिकारों की अस्वीकृति तथा निरपेक्ष शासक के हाथों में सम्पूर्ण शक्तियाँ केंन्द्रित करने के उद्देश्य सें प्रदान किए। सातत्यता के लिए इतनी बड़ी कीमत चुकाने के लिए लॉक तैयार नहीं था। अत: उसके चिन्तन में व्यक्ति के अधिकारों तथा बहुमत का शासन, व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता तथा कार्यपालिका का व्यावहारिक महत्व, सम्पत्ति की व्यापक व्याख्या एवं उसकी संकीर्ण मान्यता में कई जगह विरोधाभास एवं असातत्यता देखते को मिलती है।

साथ ही, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लॉक कें राज चिन्तन में कमियाँ नहीं है। विचारकों का मानना है कि लॉक द्वारा प्रतिपादित व्याख्या, जिसमें वह यह मानता है कि भिन्न–भिन्न व्यक्ति अपने जीवन, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति की रक्षा हेतु समझौता करते है, एक यथार्थवादी स्थिति नही लगती है। लॉक समुदाय को एक जगह बाँधने वाले अन्य तत्वों जैसे प्रजाति, भूगोल आदि को देखने में असफल रहा है। साथ ही, ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो

सामाजिक समझौता का विचार देखने को नहीं मिलता है। सर अरनेस्ट बार्कर नें लिखा है कि महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि क्या वास्तव में व्यक्तियों नें समझौता किया, किन्तु हमें यह सोचना चाहिए कि क्या व्यक्ति ऐसा करने के लिए तैयार थे? इस सबके बावजूद, लॉक को प्रजातंत्र, शक्ति पृथक्करण तथा कानून के शासन का समर्थक माना गया है। साथ ही, राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में लॉक द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक कानून की अवधारणा एवं संविधानवाद का विचार महत्वपूर्ण स्थान रखना है।

7. इकाईगत अभ्यास कार्य

1. "लॉक आधुनिक उदारवाद का जन्मदाता था", व्याख्या कीजिए।
2. मानव प्रकृति एवं सरकार के स्वरूप के बारे में लॉक के विचारों का मूल्याँकन कीजिए।
3. लॉक द्वारा विवेचित क्रांति के अधिकार की व्याख्या कीजिए।
4. राजनीतिक चिन्तन कें इतिहास में लॉक द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा के महत्व पर प्रकाश डालिए।

8. स्वमूल्याँकित प्रश्नों के उत्तर

1. (अ) गलत (ब) सही (म) गलत (द) सही
2. (स)
3. (स)
4. (ब)

9. संदर्भ ग्रन्थ

1. पीटर लासलेट (सं.) : जॉन लॉक. दि टू ट्रीटाइसेज ऑफ गवर्नमेन्ट, केम्ब्रिज, 1960
2. जॉन डन : दि पॉलिटिकल थॉट ऑफ जॉन लॉक, कैंब्रिज, 1988
3. थॉमस आई. कुक : ट्रीटाइसेज ऑन गवेरमेंट, न्यूयार्क, 1947
4. सी.बी. मेक्फरसन : दि पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ पजेसिव इंडिविजुएलीज़्म, ऑक्सफोर्ड 1962

इकाई–11

राजनीति में उपयोगितावादी विचार' : बेन्थम और जॉन स्टुअर्ट मिल

इकाई संरचना

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. उपयोगितावाद – मूल अर्थ
4. सुखवाद का सिद्धान्त
5. बेन्थम का राज्य सिद्धान्त
   5.1 आलोचना
6. उपयोगितावाद में परिवर्तन – समय की मांग
   6.1 जें.एस. मिल की दुविधा
   6.2 उपयोगितावाद में संशोधन
7. सारांश
8. इकाईगत अभ्यास कार्य
9. संदर्भ ग्रंथ

1. उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने कें उपरान्त आप जान सकेंगे कि

1. उपयोगितावाद का क्या अर्थ है?
2. बेन्थम कें उपयोगितावाद की क्या विशेषताएं है?
3. बेन्थन का सुखवाद का सिद्धान्त क्या है?
4. बेन्थम के सुखवाद के सिद्धान्त की कमियाँ क्या हैं?
5. बेन्थन के राज्य का सिद्धान्त क्या है ।
6. बेन्थम कें राज्य सिद्धान्त की आलोचना के आधार क्या हैं?
7. जे.एस. मिल की दृष्टि में उपयोगितावाद में परिवर्तन की क्या आवश्यकता है?
8. उपयोगितावाद में आवश्यक संशोधनों का क्या औचित्य है?

2. प्रस्तावना –

भूमिका : उपयोगितावाद क्या है?

सर्वप्रथम तो प्रश्न उठता है कि उपयोगितावाद क्या है? वास्तव में उपयोगितावाद व्यक्तिवाद / उदारवाद का ही एक स्वरूप है। परन्तु फिर एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि व्यक्तिवाद और उदारवाद क्या है और इनमें (व्यक्तिवाद व उदारवाद) में क्या अन्तर है?

व्यक्तिवाद का अभ्युदय रेनेसां (पुर्जजागरण) एवं रिफ़ार्मेसन (पुर्नसुधार), इन दो जुड़वां आन्दोलनों के फलस्वरूप मध्य काल में हु आ। यद्यपि ये दो आन्दोलन सांस्कृतिक एवं धार्मिक आन्दोलन थें तथापि इन आन्दोलनों ने राजनीतिक चिंतन में आधुनिकता के तत्वों को प्रभावित किया। आधुनिक चिंतन कें यह तत्व है– व्यक्तिवाद, विज्ञानवाद एवं राष्ट्रीय संप्रभु राज्य की अवधारणा।

व्यक्तिवाद व्यक्ति को साध्य एवं सभी राजनीतिक/सामाजिक संस्थाओं को व्यक्ति के साध्य की पूर्ति का साधन मानता है। व्यक्ति के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोरा व्यक्तिवाद एक ओर राज्य को सर्वशक्तिमान–संप्रभु बना देता है (जैसे हॉब्स (1588–1679) के चिन्तन में है), तो दूसरी ओर वह व्यक्ति को साधा और स्वावलम्बी मान कर राज्य के नियांतरण को नयुन्तम करने की अपेक्षा करता है। कभी–कभी यह राज्य नियंत्रण के पूर्णत: निषेध की भी चेष्टा करता है (जैसे, 19वीं शताब्दी में हर्बर्ट स्पेन्सर– 1820–1903) के चिन्तन में भावी औद्योगिक समाज की रूप–रेखा)।

उदारवाद, व्यक्तिवाद का ही एक स्वरूप है, जो व्यक्ति के अधिकारों और उसकी स्वतंत्रता (Liberty शब्द से ही Liberalism बना है) कों साध्य मान कर व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा के लिए सीमित एवं संवैधानिक शासन का आग्रह करना है। यह कोरे व्यक्तिवाद की भांति न तो राज्य के सर्वोच्च सत्ताधारी स्वरूप को ही स्वीकार करता है, और न राज्य को पूर्णत: समाप्त करने की ही बात करता है। यह व्यक्तिवाद का ' 'उदार '' स्वरूप है। उदारवाद का प्रणेता लॉक (1632–1704) है।

3. उपयोगितावाद – मूल अर्थ

जैसा कि कहा जा चुका है, उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद/उदारवाद का ही एक स्वरूप है जो 18वीं शताब्दी में बेन्थम (1748–1832) के चिन्तन में प्रस्फुटित होकर, जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873) कें चिन्तन में पूर्ण रूप से विकसित हु आ। उपयोगितावाद व्यक्ति के ' 'सुख '' को साधा मान कर, राज्य कों ' 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख '' को उपलब्ध करने का साधन मात्र मानता है।

अब पुन: प्रश्न उठता है कि ' 'सुख '' की क्या अवधारणा है? इसे व्यक्ति किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? तो आइए, बेन्थम के उपयोगितावाद की विशेषताएं समझने का प्रयास करें।

4. सुखवाद का सिद्धान्त

बेन्थम का कहना है कि : "प्रकृति ने मानव को दो सर्वोच्च शक्तियों के शासन में रखा है – सुख और दुख। इन्हीं को... हम सभी निर्णयों का और जीवन के सभी संकल्पों का आधार मानते है.. सुख प्राप्त करना और दु:ख की उपेक्षा करना, यही जीवन का उद्देश्य है। अत: यही उद्देश्य नीतिज्ञों एवं विधायकों के चिन्तन का प्रमुख बिन्दु है। उपयोगिता का सिद्धान्त इन्हीं दो उद्देश्यों के प्रति सब कुछ निछावर कर देता है।"

उपरोक्त कथन कें संदर्भ' में ही बेन्थम के उपयोगितावाद की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जाना है। यह विशेषताएं निम्नलिखित है :

(1) उपयोगिता का सिद्धान्त सुखवाद का सिद्धान्त है। सुखवाद यह मानता है कि मानव को सुख–दुख की अनुभूति संवेदनशील नाड़ियों के माध्यम सें अथवा अनुभवों के आधार पर होती है। विचारों का उद्गम हमारी एष्णाएं अथवा अनुभव हैं।

(2) उपयोगिता का सिद्धान्त मात्रा–संबंधी सुखवाद का सिद्धान्त है। इसका तात्पर्य यह है कि सुख–दुख का मापदण्ड मात्रा है न कि गुण। अत: वही कार्य ग्राहय है जिनके परिणाम स्वरूप व्यक्ति को मात्रा में अधिक सुख मिलता हों, न कि जिसके करने से उच्च प्रकार का सुख मिलता हो। उदाहरण के लिए, यह कहा जा सकता है कि यदि ताश के पत्तों के खेल में कविता–पाठ से अधिक आनन्द आता है नो ताश का खेल अधिक ग्राहय है।

(3) और, यदि सुख दुख का मापदण्ड ' 'मात्रा " है ' 'गुण " नही, तो निश्चित ही किसी भी कार्य को करने से कितनी मात्रा में सुख मिलता है, यह मालूम किया जा सकता है। बेन्थम ने सुखों की मात्रा मापने के लिए एक ' 'नैतिक समाकलन " (Moral Calculas) भी प्रस्तुत किया है। इस समाकलन में सात घटक हैं। दूसरे शब्दों में, किसी भी कार्य को करने से कितना सुख दुख प्राप्त हो सकता है, इसका निर्धारण "नैतिक समाकलन" के निम्न घटकों के, आधार पर किया जा सकता है–

पहला–निश्चितता– वह कार्य अधिक ग्राहय है जिसे करने से ' 'सुख " मिलना निश्चित है, न कि वह कार्य जिसमें ' 'सुख " अनिश्चित है, दूसरा– दूरीपन, तीसरा– टिकाऊपन और चौथा– तीव्रता। इस मापदण्ड के अन्य तीन घटक हैं। उपरोक्त वर्णित चार घटक व्यक्ति–विशेष के तत्कालीन कार्यो सें सम्बन्धित हैं। किन्तु यह भी आवश्यक है कि कार्य की प्रभावकारिता को भी मापदण्ड में स्थान दिया जाय। अत: वेन्थम के अनुसार पांचवां व छठा घटक कार्य की फलानुभूति सें सम्बन्धित हैं। यह हैं– सुख की उर्वरता और शुद्धता। निश्चय ही वह सुखकारी कार्य ग्राहय है जो उर्वरक हो, आदि जिसके प्रभाव से एक के बाद एक कई सुखों की प्राप्ति हो। इसी प्रकार वह सुख भी अधिक ग्राहय है जो विशुद्ध हो, अर्थात् जिसमें दुख लेशमात्र भी न हो। मापदण्ड का अन्तिम सातवां–घटक सुख दुख के विस्तार से सम्बन्धित है। अर्थात् वह सुख अधिक ग्राहय है जो अधिकतम व्यक्तियों को सुख प्रदान कर सके। बन्धन के अनुसार इस मापदण्ड के आधार पर ' 'कानून बनाना केवल एक गणित का विषय हो जाना है, जिसमें दु:ख "खर्च " है और सुख ' 'प्राप्ति। "

(4) उपयोगितावाद कार्य के ' 'परिणाम " पर अधिक ध्यान देता है, न कि कार्य करने के ' 'मनोभाव " पर। परिणामों में भी ' 'प्राथमिक" परिणाम से ' 'सहायक' परिणाम अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, और विधि–वेत्ताओं को कानून बनाते समय सहायक परिणामों पर अधिक ध्यान देना अपेक्षित है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति के घर चोरी हो जाए तो उसे जो ' 'पीड़ा " होगी वह ' 'चोरी " का प्राथमिक परिणाम है; किन्तु इस चोरी से सभी पड़ोसियों को आपने घर में भी चोरी होने की सम्भावना से जो दुख होगा, वह इसका सहायक परिणाम है।

(5) अब प्रश्न उठता है कि उपयोगितावाद का सिद्धान्त किसके सुख की अपेक्षा करता है। इस सम्बन्ध में बेन्थन हॉब्स के "मनौवैज्ञानिक आत्म–हित" के सिद्धान्त (Psychological egoistic hedonism) का समर्थन करते हुये कहते हैं कि व्यक्ति केवल अपने ही व्यक्तिगत सुख की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है। किन्तु, साथ ही बेंन्थम यह भी मानते हैं कि व्यक्ति को ' 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख " (greatest happiness of the greatest number) का प्रयास करना चाहिए। और अन्त में. उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि व्यक्ति को ' 'अधिकतम सम्भव सुख " (greatest possible happiness) के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

(6) व्यक्ति को अपना व्यवहार किस प्रकार नियंत्रित करना वांछनीय है, इस सम्बन्ध में उपयोगितावाद का आग्रह है कि ' 'सही " कार्य वह है जो ' 'कर्त्तव्य " की भावना से नहीं बल्कि ' 'सुख " की भावना से प्रेरित होकर किया जाय। या, यूं भी कहा जा सकता है कि बेन्थन ' 'आत्म–हित " (सुख–प्राप्ति) और ' 'कर्तव्य" में एक–रूपता मानते हैं। यहां पर यह समझ लेना आवश्यक है कि क्योकी बेंथम ' 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख " या ' 'अधिकतम सम्भव सुख " की धारणा को मानने हैं, अत : आत्म–सुख के अन्तर्गत वे कार्य भी आ जाते हैं जिन्हें करनें से तत्कालीन पीड़ा की अनुभूति हो सकती हैं; किन्तु इस प्रकार के कार्य कें परिणाम स्वरूप अधिकतम व्यक्तियों का सुख अथवा ' 'अधिकतम सम्भव सुख " ही उपलब्ध होता है। बेंन्थम की दंड–व्यवस्था की अवधारणा इसी चिंतन पर आधारित है।

(7) बेंन्थम का आग्रह है कि उपयोगिता का सिद्धान्त एक सार्वभौमिक सत्य है। दूसरे सभी सिद्धान्त सुख–वादी सिद्धान्त के आवरण में छिपे हुये मुखौटे मात्र हैं। व्यक्ति केवल–और–केवल ' 'सुख " की आकांशा से ही कार्य करता है। अत: आत्म–त्याग अथवा संन्यासवाद में भी सुखवाद छुपा हुआ है।

(8) अन्तत:, उपयोगितावाद स्वयंसिद्ध नैतिक नियमों, प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक न्याय, आदि अवधारणाओं को स्वीकार नही करता। इस तथ्य पर बल देते हुए कि मानव–व्यवहार अनुभवों पर आधारित है, बेन्थम सभी प्रकार के तत्विक नियमो को अस्वीकार करते हुए मानते हैं कि मानव–व्यवहार का एकमात्र निर्धारक तत्व ' 'सुखवाद " है और सुख की अनुभूति इन्द्रियों कें माध्यम से होती है।

सुखवाद के सिद्धान्त की आलोचना

बेन्थम की यह मान्यता थी कि उनके द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद का सिद्धान्त सरल और स्पष्ट है। यह सत्य है कि उन्होंने जटिल तात्विक दर्शन के स्थान पर अनुभवमूलक एवं प्रायोगिक दर्शन की परम्परा स्थापित की। किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति ही होगा कि उपयोगितावाद का सिद्धान्त सूत्र एवं सरल है। जोन्स नें कहा है कि बेन्थम का सिद्धान्त अस्पष्ट, अपर्याप्त और अव्यावहारिक है। यह अस्पष्ट है, क्योंकि 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख ' में 'अधिकतम व्यक्ति' और 'अधिकतम सुख' में विरोधाभास है। उदाहरण के

लिए, यदि कार्य “अ” करने से “अधिकतम व्यक्तियों” को सुख मिलता है, और कार्य “ब” करने से कुछ ही व्यक्तियों को “अधिकतम सुख” मिलता है, तो कौन सा कार्य किया जाए? इसी प्रकार यह सिद्धान्त अपर्याप्त है क्योंकि मानव जीवन में सुखाकांक्षा ही एक मात्र उद्देश्य नही है। बेंन्थम 'कर्तव्य' और 'हित' में एकरूपता मानते हैं; किन्तु ऐसा नहीं है। कई बार 'कर्तव्य' और 'हित' में संघर्ष होता है, और व्यक्ति आत्मत्याग कर 'कर्तव्य' के अनुसार ही कार्य करता है। और, अन्त: उपयोगितावाद का सिद्धान्त 'अव्यावहारिक' है। बेन्थम कें 'नैतिक समाकलन' को व्यवहार में लाना कठिन है; क्योंकि इसके सात घटको में सामंजस्य स्थापित करना असम्पद सा है। किसी कार्य कों करने में सुख 'टिकाऊ' तो है, पर 'तीव्र' नही, और दूसरे कार्य को करने में सुख का मिलना 'निश्चित' तो है पर सुख मिलने की सम्भावना 'दूरगामी' है। इसके अतिरिक्त, भावी सुख जों अनिश्चित होता है, उसें कैसे मापा जाए? भविष्य की क्या सीमा निर्धारित की जाए? इन्ही प्रकार के अनेकानेक प्रश्नों का उपयोगितावाद के पास कोई स्पष्ट उत्तर नहीं है।

5. बेन्थम का राज्य सिद्धान्त–

राज्य की उत्पत्ति कें सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं। कुछ राजनीतिशास्त्री राज्य को ईश्वर कृत, कुछ मानव–निर्मित मानते हैं तो कुछ इसका विकासवादी आधार मानते हैं। बेन्थम के अनुसार राज्य मनुष्यों की 'आवश्यकताओं' को करने का साधन है; और मानव की सबसे बड़ी आवश्यकता सुख की प्राप्ति है। राजनीतिक दायित्व का भी यही आधार है–नागरिक राज्य की आज्ञा का इसलिए पालन करतें हैं क्योंकि राज्य 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' प्रदान करता है।

यूं तो उपयोगितावाद के अनुसार सभी सामाजिक संस्थाएं वे 'उपयोगी' संस्थाएं हैं जो अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्रदान करने कें लिए होती है, किन्तु राज्य अन्य संस्थाओं से इस दृष्टि से भिन्न है कि केवल 'राजनीतिक नियंत्रण' ही बन्धनकारी है, और राज्य राजनीतिक नियंत्रण का सीत्र है। बेंथम चार प्रकार के 'नियंत्रणों' का उल्लेख करते हैं–भोतिक नियंत्रण, नैतिक नियंत्रण, धार्मिक नियंत्रण एवं राजनीतिक नियंत्रण। इनमें से केवल राजनीतिक नियंत्रण ही बन्धनकारी इसलिए हैं क्योंकि राजनीतिक नियंत्रण 'कानून' द्वारा स्थापित होता है और कानून सर्वोच्च सत्ता (संप्रभुता) का आदेश है।

स्पष्ट है कि बेंथम राज्य के सर्वोच्च सत्ताधारी स्वरूप का समर्थन करते हैं। यद्यपि ' 'राज्य '' सुख प्राप्ति का साधन–मात्र है (यह साध्य नहीं है), किन्तु इसमें संप्रभु सत्ता निहित है। राज्य आवश्यक रूप से कानून–बनाने वाली वह संस्था है जो कानून के माध्यम से ' 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख '' उपलब्ध कराने में सहायक होती है। राज्य यह कार्य समाज के विभिन्न 'हितों' (interests) कें समन्वय द्वारा सम्पन्न करता है। राज्य वास्तव में एक ' 'आवश्यक–बुराई' (Necessary Evil) है जो अपराधियों को अस्वाभाविक पीड़ा (दंड) प्रदान कर विभिन्न हितों का समन्वय करता है।

इस प्रकार, बेन्थम राज्य को साधन–मात्र मानते हुए भी एक संप्रभु राज्य की स्थापना करते हैं, और आग्रह करते हैं कि कानून संप्रभु सत्ता का ही आदेश है। किन्तु, क्योंकि राज्य

एक 'आवश्यक बुराई' है, इसलिए राज्य के कार्यों की परिधि निषेधात्मक है। राज्य वक्ति के नैतिक–कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता है; क्योंकि कानून द्वारा केवल बाहय आचरण को ही सुधारा जा सकता है, मानव की अन्र्तचेतना को नही। अन्र्तचेतना को सुधारने का काम नीतिशास्त्र का है। अत: बेन्थम का कहना है– ' 'कानून और नैतिकता का केन्द्र एक ही है, किन्तु दोनों की परिधि भिन्न–भिन्न है। 'इसका तात्पर्य यह है कि कानून और नैतिक नियमों (दोनों का ही) का उद्देश्य सुख–उपलब्ध कराना है (दोनों का केन्द्र–बिन्दु एक ही है); किन्तु दोनों का कार्यक्षेत्र (परिधि) भिन्न है– नैतिकता मानव अन्त कारण से सम्बन्धित है जबकि कानून मानव के बाहय आचरण सें।

यह मानते हुए कि राज्य के आदेश ही कानून हैं, बेन्थम की यह भी मान्यता है कि अधिकारों का निर्माण भी राज्य ही करता है। दूसरे शब्दों में, बेन्थम संविदा के सिद्धान्तकारों की 'प्राकृतिक विधियों' और 'प्राकृतिक अधिकारों' की धारणा को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार, व्यक्ति के सम्पूर्ण अधिकार राज्य–प्रदत्त हैं। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा, उनके अनुसार, 'निरर्थक' (Simple nonsense) है। यह धारणा एक 'अराजकतावादी मिथ्या' (Anarchic fallacy) है।

यद्यपि बेंन्थम प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को अस्वीकार करते हैं किन्तु वह व्यक्ति को असहाय नहीं छोड़ते। उनके अनुसार अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख उपलब्ध कराने के लिए राज्य कों कुछ आवश्यक कर्तव्यों कों निभाना पड़ता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को सुरक्षा, आजीविका, प्रचुरता और समानता (Security, Subsistence, abundane and equality) उपलब्ध कराए। इस प्रकार लॉक नें जो प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति को प्रदान किए हैं लगभग उन सभी सुविधाओं का प्रयोग बेंथम नागरिक राज्य के अन्तर्गत करतें है।

राज्य कें कार्यो की इस अवधारणा में एक तथ्य स्पष्ट है कि बेन्थम के अनुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की 'स्वतन्त्रता' की सुरक्षा नही, वरन् व्यक्ति के 'सुख' की सुरक्षा करना है। बेन्थम प्राकृतिक स्वतंत्रता की धारणा का खण्डन करते हुए केवल नागरिक स्वतन्त्रता का संकेत भर करतें हैं।

राज्य, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक यंत्र है, एक साधन है, जो संविदा की देन नहीं है, अपितु सुख–वृद्धि का साधक और संरक्षक है।

बेन्थन राज्य के सर्वोच्च सत्ताधारी स्वरूप पर बल देते हुए भी राज्य के प्रजातांत्रिक स्वरूप के पक्षधर हैं। बेन्थम की इस धारणा के अन्तर्गत यह तर्क है कि क्योंकि आत्म–हित की धारणा सार्वभौमिक है (देखिए ऊपर–उपयोगितावाद की विशेषताओं का सातवां पॉइंट), अत: शासक भी इस ' 'प्रकृति '' से परे नहीं है, और वह भी केवल आत्महित के आधार पर शासन करेंगे। इसलिए, प्रजातंत्र ही शासन का वह स्वरूप है जिसमें शासक कें आत्म–हित को प्रजा द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। सरकार पर नियंत्रण का यही तरीका सही है। जो लोग सरकार पर संस्थागत नियंत्रण लगाने की बात करते हैं (जैसे शक्ति–पृथक्करण कें सिद्धान्तकार),

वें यह नहीं समझते कि ऐसा करने से राज्य की संप्रभु सत्ता कमजोर हो जाती है और कानून एक बन्धनकारी नियंत्रण की भूमिका निभाने में असमर्थ हो जाता है।

इस प्रकार संप्रभुता को संस्थागत तरीकों से नियंत्रित करने के प्रयत्न, बेन्थम की दृष्टि में सैद्धान्तिक दृष्टि से अस्वस्थ तथा व्यावहारिक दृष्टि से निरर्थक हैं। इन प्रयत्नों के पीछे, उनके मतानुसार, यह भावना काम करती है कि स्वतन्त्र शासन (free government) और स्वेच्छाचारी शासन (despotic government) में अन्तर केवल संप्रभुता के न्यूनाधिक परिणाम ही है। वास्तव में यह गलत है। बेन्थम का आग्रह है कि सभी प्रकार की शासन–प्रणालियों में, चाहें वें. स्वतन्त्र हो अथवा स्वेच्छाचारी, संप्रभुता के अधिकार असीमित और निरंकुश होते हैं। स्वतन्त्र शासन व स्वेच्छाचारी शासन में अन्तर संप्रभुता की न्यूनता अथवा आधिक्य कें कारण नहीं, वरन् उस सत्ता के वितरण तथा उपयोग की भिन्नता के कारण होता है।

दूसरे शब्दों में, बेन्थम संप्रभु राज्य की धारणा के समर्थक हैं। किन्तु, यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि वह संप्रभु राज्य की अवधारणा कें साथ–साथ राज्य को केवल एक साधन मात्र मानते हुए उसें अन्य व्यक्तिवादियों की भांति एक ' 'आवश्यक–बुराई " मानते हैं। राज्य को ' 'आवश्यक–बुराई " मानने कें कारण वह आर्थिक क्षेत्र में लेसे–फेयर अथवा यद–भाव्यम (Laissezfaire) की नीति का समर्थन करतें हैं।

5.1 आलोचनात्मक विश्लेषण

किन्तु, एक प्रश्न राज्य के कर्त्तव्यों कें सम्बन्ध में पुन: उठता है, कि क्या बेंन्थम के चिंतन में राज्य के कर्त्तव्यों का स्वरूप निषेधात्मक है? इस प्रश्न का समाधान करनें से पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि बेन्थम नें अपनी दो प्रमुख पुस्तकों A fragment on Government (1776) और The Principles of Morals and Legislation (1789) में दो विषयों को विशेष महत्व दिया है। प्रथम, यह धारणा थी कि कानून सचेतन बुद्धि (concious reason) की देन है न कि परम्पराओं अथवा बुद्धि कें अचेतन स्वरूप की। और द्वितीय, लोक प्रशासन की भूमिका सकारात्मक है। अर्थात् विधि वेत्ता 'नैतिक समाकलन' के आधार पर इस प्रकार की विधियों का निर्माण करें कि 'अधिकतम व्यक्तियों कें अधिकतम सुख' की उपलब्धि हों सके। और, फिर इन विवेकमय विधियों को प्रशासन व्यावहारिक रूप प्रदान करे।

इस प्रकार मानव–स्थिति सुधारने में विधियों और प्रशासन की भूमिका सकारात्मक है; और दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। विधियां यदि 'सिद्धान्त' हैं तो लोकप्रशासन उनका 'व्यवहार'। और, इस दृष्टि से शासन एक प्रकार सें सामाजिक–अभियन्ता (Social engineering) का कार्य सम्पादित करता है।

यदि हम लोग बेन्थन के 'कानून' और 'प्रशासन' की इस धारणा को स्वीकार कर लेते हैं और यह भी मान लेते हैं कि इन दोनो का कार्य समाज–सुधार अथवा सामाकि अभियन्त्रीकरण (Social engineering) है, तो क्या इस मान्यता में राज्य के कर्त्तव्यों का निषेधात्मक स्वरूप

समाप्त नहीं हो जाता? एक ओर लेसे– फेयर राज्य की अवधारणा व दूसरी ओर राज्य का सुधारवादी स्वरूप एकदूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं।

किन्तु इस विरोधाभास के बावजूद भी यह तो मानना ही होगा कि बेन्थम के चिन्तन में राज्य की व्यक्तिवादी अवधारणा का नवीन स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। बेंन्थम नीति–निर्माण में वैज्ञानिक पद्धति का समावेश करतें हैं; और, उनके उपयोगितावाद में आधुनिक राज्य की रूपरेखा उभरती है मेक्यिावली (1469–1526) की भांति उनकी चिंतनधारा राजनीति विज्ञान न रह कर नीति–विज्ञान बन जाती है, और विज्ञान होने के नाते यह मात्रा सम्बन्धी दृष्टिकोण कों स्वीकार करती है न कि गुण–सम्बन्धी।

जिस प्रकार लॉक (1632–1704) और मॉन्टेस्क्यू (1689–1755) ने उदारवाद कें राजनीतिक पक्ष कों उजागर किया, और 18वी शताब्दी के अर्थशास्त्रियों–जैसे, एडम स्मिथ, रिकार्डो और माल्थुस ने उदारवाद के आर्थिक–स्वरूप की व्याख्या की, उसी प्रकार उदारवाद व्यक्तिवाद के वैधिकस्वरूप की व्याख्या का श्रेय बेंन्थम को जाता है।

इंग्लैण्ड में न्याय–व्यवस्था में सुधार प्रमुख रूप से बेन्थम के ही प्रयत्नों से हुआ। न्याय–प्रणाली और विधि–सुधार के क्षेत्र में उनके देन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। सर हेनरी मेन का कथन है कि बेंन्थम के समय सें अब तक कोई भी कानून ऐसा नहीं है जिसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बेंन्थम का प्रभाव न पड़ा हो।

इसके अतिरिक्त, दंड–व्यवस्था और कारागार व्यवस्था के क्षेत्रों में भी बेंन्थम की बहुत बड़ी देन है। उनका मत था कि दंड–व्यवस्था का आधार अपराधी में सुधार करने का है न कि उसे नष्ट करने का। इसलिए वह ऐसे बड़े दंड, जैसें मृत्यु–दंड के, विरोधी थे। वह कारागार व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन चाहते थें कि अपराधी कारागार में रह कर किसी भी कार्य में निपुणता प्राप्त कर सके ताकि कारागार सें निकल कर वह सुख–पूर्वक रह सकें।

इस इकाई के प्रथम भाग में बैन्थम के, उपयोगितावाद और राज्य कें सिद्धान्त का अवलोकन करने से हमें एक तथ्य तो स्पष्ट हों जाता है कि बेन्थम शासन कें सुधारवादी स्वरूप की स्थापना करते हुए भी राज्य के निषेधात्मक कर्तव्यों के सिद्धान्त और यदभाव्यम नीति कें ही पोषक रहें। अत: राज्य की सामाजिक अभियांत्रिकी संबंधी (सोशल इन्जीनियरिंग) धारणा का संकेत करने के बावजूद बेन्थन का उपयोगितावादी चिंतन मूलत: उग्र व्यक्तिवादी रहा जिसमें समाज कें आणविक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया और इस समाज में व्यक्ति को एक 'उमुक्त प्रवाही व्यक्ति' (free floating individual) के रूप में प्रस्तुत किया गया।

वास्तव में बेन्थन उस मध्यमवर्गीय पूंजीपतियों के, अधिकारों का समर्थन करतें प्रतीत होते है जिसका आर्भिभाव उत्पादन के माध्यम में परिवर्तन होने सें सम्भव हुआ। तात्पर्य यह है कि रेनेसां और रिफर्मिशन आन्दोलनों के फलस्वरूप जिस आधुनिक समाज का निर्माण हुआ उसमें भू – सम्पत्ति के स्थान पर पूंजीगत–सम्पत्ति को अधिक सम्मान मिला और बेन्थन के उपयोगितावादी दर्शन में इसी नवीन वर्ग के अधिकारों का 'सुखवादी' दर्शन के माध्यम से समर्थन प्रकट होता है।

6. उपयोगितावाद में परिवर्तन: समय की मांग

जैसै–जैसे उन्नीसवीं शताब्दी आगे बढ़ी, औद्योगिक क्रान्ति भी विकसित होने लगी; और लगभग इसी शताब्दी के तृतीय दशक तक तो औद्यौगिक क्रान्ति अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच गई – विशेषकर इंग्लैण्ड मे। औद्योगिक क्रान्ति की सफलता से एक ओर तो आर्थिक–प्रचुरता का युग प्रारम्भ हुआ किन्तु इसके साथ–ही–साथ दूसरी और इसके अनेक बुरे परिणाम भी दृष्टिगोचर होने लगे। '(जैसे मिल कारखानों और खदानों में कार्य करने वाले मजदूरों, स्त्री और बाल–मजदूरों की हालत (शोचनीय हो चली। उन्हें समझौते की स्वतंत्रता (Freedom of contract) के नाम पर अपनी जीविका निर्वाह के लिए अधिक घंटों और न्यूनतम मजदूरी में बहुत ही अपमान जनक और स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक परिस्थितियों में कार्य करना पड़ता था। वे ऐसा करने के लिए विवश थे। अत : आवश्यकता इस बात की थी कि इस मजदूर वर्ग कों, जो अपने अधिकारों की स्वयं सुरक्षा में असमर्थ था, राज्य सहयोग प्रदान करे। अत: यदि उदारवाद को जीवित रहना था तो उसमें "समय की मांग" कें अनुसार कुछ सुधार करना आवश्यक था। उदारवाद / व्यक्तिवाद में तीन स्तरों पर सुधार की अपेक्षा थी:

(1) राज्य के कर्त्तव्यों के सिद्धान्त के निषेधात्मक स्वरूप के, स्थान पर उसके सकारात्मक योगदान की अनिवार्यता;

(2) व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार को 'बंधनों का अभाव' न मान कर इसे 'उन कार्यों को करने की स्वतंत्रता माना जाय जो करने योग्य हों। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता के भी निषेधात्मक स्वरूप के स्थान पर सकारात्मक स्वरूप की स्थापना करना;

(3) उपरोक्त दो तत्वों को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक संबंधों को मजबूत करना।

6.1 जॉन स्टुअर्ट मिल की दुविधा

जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1877) ने बेन्थम कें उपयोगितावाद में परिवर्तन कर उपरोक्त आधारों पर इसे समयतकूल बनाने का प्रयास किया किन्तु वह अपने प्रयास में पूर्ण रूपेण सफल न हो पाये। इसके कुछ विशेष कारण थे।

जॉन स्टुअर्ट मिल के पिता, जेम्स मिल, उपयोगितावाद कें प्रबल समर्थक और बेन्थम के परम् मित्र थे। वह अपने बेटे को उपयोगितावादी विचारधारा का कर्मठ अनुयायी एवं सिद्धान्तकार बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने युवा मिल को उपयोगितावाद कें साहित्य के अलावा और कुछ पढ़ने नही दिया। युवा मिल को इस प्रकार की बाध्यकारी शिक्षा सें तब मुक्ति मिली जब 1836 में (जब मिल 30 वर्ष कें थे) उनके पिता की मृत्यु हुई। मिल इस बाध्यकारी शिक्षा से इतने उकता चुके थे कि उन्होंने नियंत्रण से छुटकारा मिलते ही अपनी रूचि अंग्रेजी साहित्य कें अध्ययन में लगा ली। अंग्रेजी साहित्य कें माध्यम से वह अंग्रेजी कवियों वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) और कोलरिज (Coleridge) के चिंतन के सम्पर्क में आए। ये कवि जर्मन आदर्शवाद से काफी प्रभावित थे, और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप सें मिल के चिन्तन पर जर्मन आदर्शवाद का प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव के कारण उनका इस प्रकार के सिद्धान्तों, जैसे, ऐतिहासिक

एकबद्धता और राज्य के नैतिक स्वरूप पर विश्वास प्रबल हो उठा। साथ ही, वह समाजशास्त्र के प्रणेता फ्रांसीसी विचारक कॉम्टे (Comte) के चिन्तन सें भी प्रभावित हुए। इस प्रभाव से उन्हें समाज के विकास के सिद्धान्त के प्रति प्रेरणा मिली। इस प्रकार मिल का यह प्रयास रहा कि किस प्रकार अंग्रेजी व्यक्तिवादी–उपयोगितावादी–अनभववादी चिन्तन को (जिसे उन्होंने अपने पिता सें विरासत में प्राप्त किया था और जिसका अध्ययन करने के लिए जीवन के अपने प्रारम्भिक काल में वह बाध्य थे) जर्मन आदर्शवादी व कॉम्टे के समाजशास्त्रीय दर्शन कें ढांचे में ढाला जाए। अत: समय' के तकाजे को ध्यान में रख कर उन्होंने उपरोक्त विपरीत प्रभावों (उपयोगितावाद एवं आदर्शवाद एवं समाजशास्त्रीय विचार) के समन्वय द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में संशोधन का प्रयास किया। किन्तु यह प्रयास, जैसा कि ऊपर कहा गया है, पूर्ण रूप से तर्क–संगत न हो सका। क्योंकि न तो मिल उपयोगितावादी परम्परा को पूरी तरह छोड़ सके और न समाजशास्त्रीय एवं आदर्शवादी चिन्तन को पूर्ण रूप सें आत्मसात ही कर सके।

जें. एस. मिल ने अपने चिन्तन का प्रारम्भ तो सदैव बेंन्थम के विचारों के अनुरूप ही किया किन्तु उसकी व्याख्या करने में इन विचारों को ऐसा मोड़ दे दिया कि उनका चिन्तन पूर्ण रूप से उपयोगितावादी न रह पाया।

6.2 उपयोगितावाद मे संशोधन

जैसा कि हम देख चुके है, जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने चिन्तन का प्रारम्भ बेन्थम के सुखवादी सिद्धान्त को अक्षरशः स्वीकार करके किया। उन्होंने यह माना कि मानव क्रिया कलापों का प्रेरक तत्व सुख–दुख है और सुख–दुख की अनुभूति इन्द्रियों के माध्यम सें होती है। किन्तु, बेंन्थम की इस धारणा को स्वीकार करने के पश्चात् उन्होनें बेन्थम द्वारा प्रतिपादित मात्रा–संबंधी सुखवाद कें सिद्धान्त के स्थान पर गुण–संबंधी सुखवाद कें सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। उनके अनुसार 'सुख' में केवल मात्रा–संबंधी अंतर ही नहीं होता, वरन् गुणात्मक अन्तर भी विद्यमान होता है। कुछ 'सुख' अधिक मूल्यवान और वांछित होते है। बेन्थम ने कहा था कि 'सुखों की मात्रा समान होने– सें ताश के पत्तों के खेल और कविता पाठ के आनंद में कोई अन्तर नही है।' इसके विपरीत, मिल का कहना था कि 'एक संतुष्ट शूकर सें एक असंतुष्ट मानव का होना अधिक अच्छा है, और एक संतुष्ट मूर्ख से एक असंतुष्ट सुकरात का होना अधिक अच्छा है। " अर्थात्, बौद्धिक सुख इन्द्रिय सुख से उच्चतर है।

और, यदि 'सुख' में गुणात्मक अन्तर का अधिक स्थान है तो बेन्थम द्वारा प्रतिपादित 'नैतिक समाकलन' भी निरर्थक है।

इस बात का प्रतिपादन करके कि कुछ सुख अधिक मूल्यवान और वांछित है, मिल ने उपयोगितावाद को मानव गरिमा के भावों सें भर दिया। इस दृष्टि से भौतिक सुख की प्राप्ति नहीं वरन् आत्म–विकास मानव क्रिया कलापों का उद्देश्य बन जाता है। उपयोगितावादी सिद्धान्त में इस नैतिक मापदण्ड का समावेश कर मित्र ने उपयोगितावाद में एक प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। परिणाम स्वरूप, राज्य का स्वरूप भी नैतिक संस्था जैसा प्रतीत होने लगा (यद्यपि इस धारणा को मिल प्रत्यक्षत: स्वीकार नहीं कर सके)।

मानव–गरिमा का विश्लेषण करतें हुए मिल ने बेन्थन द्वारा स्वीकृत नैतिक और राजनीतिक कृतज्ञता के सिद्धान्त में भी परिवर्तन कर दिया। मानव संस्थाएं केवल भय और स्वार्थपरता पर ही आधारित नहीं है, वरन् मिल के अनुसार प्रेम, सहानुभूति, धार्मिक भाव आदि भी मानव संस्थाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते है। अत: जैसा कि बेन्थम का आग्रह था कि केवल सर्वोच्च सत्ता का भय ही राजनीतिक कृतज्ञता का आधार है – इसे मित्र ने अस्वीकार कर यह माना कि उपरोक्त भावनाएं भी राजनीतिक कृतज्ञता के निमित्त योगदान देती है। इस प्रकार मिल ने राज्य के भावात्मक आधार को भी स्वीकार किया।

6.3 स्वतंत्रता के सिद्धान्त में परिवर्तन

बेन्थम के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार उपयोगिता कें सिद्धान्त से कम महत्व रखता है किन्तु मिल के लिए स्वतंत्रता मूल है जो उपयोगिता के सिद्धान्त से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

वास्तव में मिल की On Liberty (1859) उपयोगितावाद में एक नवीन स्वर का समावेश है। उनका यह कथन कि सम्पूर्ण विश्व की मानवजाति को भी एक विरोधी के मत को नकारने का अधिकार नहीं है, इस तत्व का घोतक है कि स्व–नियंत्रित निर्णय का अधिकार मूल है। 'ऑन लिबर्टी ' तथा 'ऑन रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट' में मिल ने आग्रह किया कि लोक मत का दबाव निरंकुश राजनीतिक दबाव से भी अधिक भयंकर होता है। दूसरे शब्दों में, उन्होनें एक ऐसे, जागृत और सहिष्णु समाज का आस्वान किया जो विरोधी मतों का आदर करता हो। उनका विश्वास था कि प्रत्येक मत में सत्यांश का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है।

इस प्रकार, मिल ने इस तथ्य को पहचाना कि उदार सरकार के पीछे एक उदार समाज का होना आवश्यक है, और समाज व्यक्ति व राज्य के मध्य संबंध स्थापित करने वाली एक अनिवार्य कड़ी है। स्वतंत्रता के इस सकारात्मक स्वरूप का बोध होते हुए भी मिल ने स्वतंत्रता की जो दो परिभाषाएं दी, वे विरोधाभासों से युक्त है।

प्रथम परिभाषा के अनुसार व्यक्ति स्वयं में संप्रभु है और हर प्रकार का नियंत्रण बुरा है। किन्तु तुरंत इसके पश्चात् व्यक्ति के कार्यों को वह 'आत्मगत' और 'समाजगत' श्रेणियों में विभक्त कर देते है और आग्रह करते है कि 'आत्मगत' कार्यों में राज्य हस्तक्षेप कर सकता है। इस विचार के प्रतिपादन में मिल यह भूल गए कि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है और उसका कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो पूर्णरूपेण आत्मगत हो। और यदि ऐसा है तो राज्य व्यक्ति के सभी कार्यों मे हस्तक्षेप कर सकता है। उसी प्रकार, मिल की दूसरी परिभाषा के अनुसार, स्वतंत्रता उन कार्यों के करने में निहित है जो व्यक्ति करना चाहता है, किन्तु कभी–कभी व्यक्ति को यह मालूम नहीं होता कि वह क्या करना चाहना है तो राज्य उसे उसके कर्तव्यों का स्मरण करा सकता है। बार्कर ने इसलिए कहा है कि मिल 'खोखली स्वतंत्रता और अमूर्त व्यक्ति का मसीहा है।" (“Mill is the prophet of an abstract individualand empty liberty”) मिल उपयोगिता के सिद्धान्त में एक ओर महत्वपूर्ण परिवर्तन करते है। बेन्थन उपयोगिता कें सिद्धान्त को एक सार्वभौमिक सत्य मानते थे। उनके' अनुसार भावनाएं, इतिहास, परम्परा आदि मानव

संगठन में कोई महत्व नहीं रखती। इसके विपरीत, मिल ऐतिहासिक सापेक्षवादी (Historical Relativist) है। वह इतिहास और परम्परा की छाप नहीं भुला सके। इसीलिए उनका कहना है कि प्रजातंत्र शासन का सर्वोत्तम स्वरूप होते हुए भी 'प्रजातंत्र' केवल उन देशों कें लिए ही लाभकारी है जहां की जनता चेतनशील हों और जहां का लोकमत जागृत हो। प्रजातंत्र की इस अवधारणा के कारण मिल को 'अनिच्छक प्रजातांत्रिक (Reluctant Democrat) भी कहा जाता है।

और अन्त में, मिल के चिन्तन में राज्य कें कार्यों का निषेधात्मक स्वरूप भी प्राय: लुप्त हो जाता है। वह कुछ समाजवादी विचारों के प्रति सहानुभूति दर्शाते है। जैसे, वह भूति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर राज्य के अंकुश को कुछ मात्रा में स्वीकार करतें है; वह राज्य द्वारा काम कें घंटें, न्यूनतम मजदूरी, आदि को नियंत्रित करनें का समर्थन करते है। पर यह सब स्वीकार करतें हुए भी वह राज्य के कार्यों के यद्भाव्यम (Laissez faire) सिद्धान्त के प्रचुर समर्थक प्रतीत होते है।

इस प्रकार मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचारों और राज्य के कर्तव्य–संबंधी सिद्धान्तों में एक प्रकार का विरोधाभास सा आ गया है। इस विरोधाभास का मूल कारण यही है कि वह अपने पिता से, विरासत में प्राप्त उपयोगितावादी विचारधारा और जर्मन आदर्शवाद एवं कॉम्टे कें समाजशास्त्रीय विचारों का तर्कपूर्ण ढंग से सामंजस्य नही कर सके।

7. इकाई सारांश

राजनीति की उपयोगितावादी दृष्टि पुनर्जागरण तथा पुनर्जागरण आन्दोलनों कें फलस्वरूप विकसित हुई। इसकी प्रथम अभिव्यक्ति हमें बेन्थन के राजनीतिक विचारों में मिलती है। मूलत: उपयोगितावाद सुख के संवर्द्धन को साध्य मानता है और राज्य को सुख–उपलब्धि का साधन। सुखवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बेंन्थम की यह मान्यता थी कि सुख का संबंध मात्रा से है न कि गुण से। मात्रात्मक सुख की उपलब्धि कें लिए उन्होंने एक 'नैतिक समाकलन' प्रतिपादित किया जो कानून निर्माण को एक गणितीय निर्मित मानते हुए दुख को "खर्चा" और सुख को "प्राप्ति" के रूप में प्रतिष्ठित करता है। उपयोगितावाद, बेन्थम के अनुसार परिणाम को 'मनोभावों ' पर प्राथमिकता देता है, वह आत्म सुख का संवर्द्धन करते हुए "अधिकतम व्यक्तियों कें अधिकतम सुख" को समर्पित है तथा इस रूप में वह एक सार्वभौमिक सत्य है। बेन्थम की उपयोगितावादी दृष्टि में राज्य यद्‍यपि सुख–उपलब्धि का साधन है फिर भी वह अपने क्रिया कलापों में सम्प्रभुता युक्त है। राज्य सभी व्यक्तियों एवं वर्गो के हितों को समन्वित करते हुए सुख उपलब्धि को चरितार्थ करता है। फिर भी राज्य एक 'आवश्यक बुराई' है और इसलिए बेन्थन 'यथाभाव्यमू सिद्धान्त' के पक्षधर है।

बेन्थम के उपयोगितावाद सिद्धान्तों में विरोधाभास निहित है। राज्य के लिए एक ओर 'अ–हस्तक्षेप' का आग्रह और दूसरी ओर उसके सुधारवादी रूप की संकल्पना एक ऐसा ही विरोधाभास है। फिर भी, कानून और दण्ड–व्यवस्था में सुधार संबंधी बेन्थम कें वैचारिक आग्रह इंग्लैण्ड व यूरोप के संदर्भ में विशेषत: उल्लेखनीय है।

उपयोगितावाद को समयानुकूल बनाने की दृष्टि सें जे एस मिल ने उसे जर्मन आदर्शवाद तथा कॉम्टे के समाजशास्त्रीय दर्शन सें समन्वित करने की चेष्टा की। मिल राज्य कर्तव्यों के प्रति सकारात्मक दृष्टि नियोजित करने, के पक्षधर थे। साथ ही, वह स्वतंत्रता व कानूनों की सकारात्मकता प्रतिष्ठित करना चाहते थे और इन दोनों को चरितार्थ करने, के लिए वह राज्य और व्यक्ति कें संबंधों को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने को तत्पर थे। इसलिए उन्होंने उपयोगितावाद के बुनियादी तत्व–सुख–को गुणात्मक आधार प्रदान किया। तथ्यात्मक रूप से मिल ऐसा कर पाने में पर्याप्त सफलता न पा सके। उनका प्रारम्भ तो बेन्थमवादी संकल्पनाओं से हुआ परन्तु बेंन्थम की व्याख्या कुछ इस प्रकार की हुई कि उसका मूल चरित्र– उपयोगितावाद– इस क्रम में अस्त–व्यस्त सा हों गया। दो विपरीत भावभूमियों से प्रेरणा लेने के क्रम में मिल न तो उपयोगितावादी रहे और न उदार लोकतंत्रवादी ही। उनकी इस मध्यस्थ स्थिति की आलोचना स्वरूप उन्हे 'खोखली स्वतंत्रता व अमूर्त व्यक्ति का मसीहा' तथा 'अनिच्छक प्रजातांत्रिक' ठहराया गया।

8. अभ्यास प्रश्न

1. उपयोगितावाद क्या है? सुखवाद तथा उपयोगितावादी सिद्धान्तों के बीच क्या संबंध है? स्पष्ट कीजिए।
2. बेन्थम के राज्य सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा उसका आलोचनात्मक संदर्भ स्पष्ट कीजिए।
3. कानून व दण्ड–व्यवस्था में सुधार की दृष्टि सें बेन्थम कें योगदान की चर्चा कीजिए।
4. जे.एस. मिल ने उपयोगितावाद में क्या संशोधन किए? आलोचनात्मक चर्चा कीजिए।
5. मिल को 'अनिच्छक प्रजातांत्रिक' क्यों कहा जाता है? स्पष्ट कीजिए।

9. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अर्नेस्ट बार्कर : पोलिटकल थॉट इन इंग्लैण्ड, 1848 टु 1914
2. सी. ब्रिन्टन : इंग्लिश पोलिइटकल थॉट इन दि नाइन्टींथ सेन्चुरी
3. ए. हेकर : पोलिटिकल थ्योरी
4. हेरॉल्ड जे. लास्की : पोलिटिकल थॉट इन इंग्लैण्ड फ्रॉम लॉक टु बेन्थम
5. एल.सी. मेक्डोनल्ड : वेस्टर्न पोलिटिकल थ्योरी: दि मॉडर्न एज
6. जॉन प्लेमेनेज : दि इंग्लिश यूटिलिटेरियन्स
7. बर्टेन्ड रसेल : हिस्टरी ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी
8. जी. डेलिक्नी : ए हिस्टरी ऑफ पालिटिकल थ्योंरी
9. एम. क्यू. सिबली : पोलिटिकल आईडियाज़ एण्ड आईडियोलॉजीज
10. सी. एल. वेपर : पोलिटिकल थॉट

ISBN 13/978-81-8496-344-1